

वर्ष-सप्तम्
सितम्बर-2016

ISSN - 2231-1130

वीथिका

A Refereed Research Journal

– सम्पादक –

मञ्जुल त्रिवेदी

– सह-सम्पादक –

डॉ० रामराजन द्विवेदी
डॉ० सत्या मिश्रा

पं० रामशंकर त्रिवेदी मेमोरियल शोसायटी
लखनऊ द्वारा प्रकाशित

वीथिका

A Refereed Research Journal

- सम्पादकीय कार्यालय -

A-888, सेक्टर-1, आशियाना, लखनऊ

सम्पर्क : 9451346084, 9936466943, 9935330260

E-mail: veethikalko@gmail.com

- मुद्रक -

हिन्दुस्तान ऑफसेट

दालमण्डी, सआदतगंज, लखनऊ

- शोध पत्रों/आलेखों में दिए गए विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। तथ्यों की प्रामाणिकता एवं मौलिकता हेतु लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।
- सम्पादक मण्डल सहित समस्त पद पूर्णतः अवैतनिक तथा परिवर्तनीय हैं।
- समस्त न्यायिक परिवादों का क्षेत्र लखनऊ ही होगा।
- किसी भी लेख अथवा लेखांश को प्रकाशित करने से पूर्व सम्पादक की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है।

— संरक्षक —

डॉ० रवि किशोर त्रिवेदी (पी०डी०एस०)

— मानद संरक्षकगण —

श्री हृदयनारायण दीक्षित

(राष्ट्रीय चिन्तक, लेखक व पूर्व सदस्य वि०प०, उ०प्र०)

डॉ० राम नरेश

(प्राचार्य, दयानन्द बछराँवा पी०जी० कालेज, बछराँवा, रायबरेली)

डॉ० मनोरमा तिवारी

(पूर्व प्राचार्या, महिला डिग्री कालेज, लखनऊ)

— सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति —

प्रो० ओम प्रकाश पाण्डेय

(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, ल०वि०वि०)

प्रो० उषा मिश्रा,

(पूर्व अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद)

प्रो० शैलेन्द्र नाथ कपूर

(पूर्व अध्यक्ष, प्रा०भा० इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, ल०वि०वि०)

प्रो० राजेश मिश्रा

(पूर्व अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, ल०वि०वि०)

प्रो० पवन अग्रवाल

(हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, ल०वि०वि०)

प्रो० राजेश्वर प्रसाद मिश्र

(संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरियाणा)

डॉ० मनोरमा अवस्थी

(पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी वि०, जे०एन०पी०जी० कालेज, लखनऊ)

श्री राम किशोर 'भूखन भइया'

(वरिष्ठ साहित्यकार, उन्नाव)

डॉ० शोभिता अग्रवाल

(एस० प्रो०, दयानन्द महिला प्रशिक्षण महाविद्यालय, कानपुर)

— सम्पादक —

मञ्जुल त्रिवेदी

— सह-सम्पादक —

डॉ० रामराजन द्विवेदी

डॉ० सत्या मिश्रा

— सम्पादक मण्डल —

डॉ० अञ्जू दत्त

डॉ० आयशा फ़ातमी

डॉ० मालविका रंजन

डॉ० वन्दना संत

डॉ० सन्त प्रकाश तिवारी

योगेन्द्र कुमार सिंह

मयंक त्रिवेदी

अजीत कुमार सिंह

डॉ० सतीश कुमार सिंह

— विधिक सलाहकार —

अनिल कुमार अवस्थी

(अधिवक्ता, माननीय उ०न्या० इलाहाबाद, ल०ख०पी०)

अतुल कुमार त्रिवेदी

(अधिवक्ता, माननीय उ०न्या० इलाहाबाद, ल०ख०पी०)

अनुक्रमणिका

क्र०सं०	पृ०सं०
1. समाजवाद: सिद्धान्त व व्यवहार (भारत के संदर्भ में) — डा० अंशु केडिया	9—15
2. उत्तर भारत में धार्मिक परियोजन : जयगुरुदेव पंथ — आरती विश्वकर्मा	16—22
3. जनजातियों पर भूमण्डलीय बाजार का प्रभाव — डॉ० सैयद हसन रजा रिज़वी	23—29
4. भारत में कार्यरत महिलाओं की भूमिका में परिवर्तन — डॉ० नमिता श्रीवास्तव	30—35
5. भारत में दलित आन्दोलन — डॉ० इशरत जहाँ	36—41
6. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम्य संघटन — डॉ० आयशा फातमी	42—58
7. 'आधा गाँव' उपन्यास में चित्रित आर्थिक जीवन — सच्चिदानन्द	69—64
8. समकालीन हिन्दी कविता का स्वरूप और दिशा — विकास चौरसिया	65—71
9. राजकमल चौधरी के उपन्यासों में स्त्री-समलैंगिकता की त्रासदी — दीपक कुमार	72—77
10. धीरेन्द्र नाथ मजूमदार : एक नृजातिशास्त्रीय अध्येता — डॉ० सत्या मिश्रा	78—85
11. महिला हिंसा: 'सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में' — डा० संध्या पाण्डेय	86—89
12. समकालीन संदर्भों में गोस्वामी तुलसीदास की प्रासंगिकता — हरेराम पाण्डेय	90—97

क्र०सं०	पृ०सं०
13. वैश्वीकरण तथा अध्यापक शिक्षा – प्रियंका सिंह	98–113
14. Reasoning ability of secondary school students as a function of gender and types of schools – Mrs. Indrapreet Kaur	114–121
15. Peace Education: An essential element for sustainable development – Seema Dhawan and Syed Zulfqar Ali Rizvi	122–139
13. वेदों में आग्नेय ऊर्जा के सन्दर्भ – डॉ. स्नेहलता शर्मा	140–146
14. अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यलक्षणविमर्श – डॉ० सुप्रिया टण्डन	147–152
15. वैदिक सौर शक्ति विमर्श – डॉ. सुधीर कुमार शर्मा	153–159
16. भविष्य का हिन्दी जनसंचार – मणिकान्त पाण्डेय	160–166
17. जल संकट बनाम निजीकरण : समीक्षात्मक अध्ययन – डा० अंशु केडिया	167–173
18. शिक्षा के निजीकरण का सामाजिक रूप से वंचित वर्गों पर प्रभाव – डॉ० सतीश कुमार सिंह	174–182
19. नव-उपनिवेशवाद की चुनौतियाँ और हिन्दी – योगेन्द्र कुमार सिंह	183–189

सम्पादकीय

मनुष्य अपने शंका करने पर शंका नहीं कर सकता। दे कार्ते का यह संशयवाद पुनर्जागरण और प्रबोधन युग की पृष्ठभूमि पर जन्मा और इसने आगे आगमनात्मक तर्क पर आधारित, वैज्ञानिक पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। वैज्ञानिक पद्धति, जो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अर्जित वास्तविक ज्ञान पर आधारित होती है और जिसने निरीक्षण, परीक्षण और तुलना की सहायता से नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ज्ञान प्राप्त करने के एक मार्ग के रूप में वैज्ञानिक पद्धति ने एक लंबा रास्ता तय किया है। वैज्ञानिक पद्धति ने अनेक ठोस परिणाम मानवता को प्रदान किये हैं। खगोलिकी, भौतिकी, यांत्रिकी, रसायन, जीव तथा इलेक्ट्रॉनिक्स में इसके विकास से हम सब प्रभावित हैं। परन्तु हम विवेचना करने में यह भी पाते हैं कि जहाँ प्राकृतिक विज्ञानों का विकास करने में आगमनात्मक वैज्ञानिक पद्धति अत्यधिक सफल रही है वहीं उदारवादी विज्ञान (लिबरल साइंसेज) के विकास में अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त होते। हम देखते हैं कि समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र में विकास की दर प्राकृतिक विज्ञान के विकास की दर से अपेक्षकृत मन्द रही है। कुछ उदारवादी विज्ञान उन्नीसवीं शताब्दी में खड़े दिखायी देते हैं और कुछ ने वहाँ से विकास के पथ पर थोड़ी ही दूरी तय की है। इस तथ्य के प्रमाण विषयवस्तु से लेकर सिद्धान्तों और नियमों के प्रतिपादन में प्राप्त होते हैं। हम देखते हैं कि जिन विज्ञानों की विषय वस्तु में निरन्तरता और निश्चितता जितनी अधिक होती है वहाँ वैज्ञानिक पद्धति अधिक सफल रही है। परन्तु जिन विज्ञानों (उदारवादी विज्ञान) की विषयवस्तु परिवर्तनशील और मानव स्वभाव तथा अन्तःक्रिया से प्रभावित होती है वहाँ वैज्ञानिक पद्धति की विकास दर कम हो जाती है और अपेक्षकृत परिणाम नहीं दे पाती। वैज्ञानिक पद्धति की ये सीमायें मानविकी के सन्दर्भ में चिन्हित हो चुकी हैं, इसीलिए सामाजिक विज्ञानों के विकास के लिए वैज्ञानिक पद्धति के साथ-साथ अन्य पद्धतियों के विकास एवं समायोजन का विमर्श जारी है।

21वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम जहाँ पद्धति सम्बन्धी विवादों में उलझे हुए हैं वहीं इतिहास भी की गई भविष्यवाणी के मार्ग को अनुसरण करता हुआ नहीं दिखायी दे रहा। 1990 के दशक में विचारधारा के अंत की घोषणा कर

दी गई थी। भविष्यवाणी यह की गई थी कि उदारवादी लोकतान्त्रिक पूंजीवाद इतिहास का अंतिम सत्य है और इतिहास वहाँ पहुँच गया। 1990 से 2000 तक इस तथ्य को निजीकरण, भूमंडलीकरण और सूचना क्रान्ति ने मजबूत किया। परन्तु 2001 तक आते-आते स्थितियाँ बदलने लगी। 2001 में भूमंडलीकरण के प्रतीक स्तम्भ (वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर) जब कट्टरपंथी हमले से धराशायी हो गये तो लगा कि इतिहास में अभी बहुत कुछ बाकी है। तब से अब तक का समय कट्टरपंथ के नाम रहा है जिसने अपनी आसुरी और पैशाचिक ताकत से मानवता को हिला दिया। वर्तमान में यह कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण की गाड़ी पटरी से उतरती दिख रही है। 'ब्रेक्जिट' और 'अमेरिका अमेरिकियों के लिए' जैसे नारे इस तथ्य को मजबूती प्रदान कर रहे हैं। यद्यपि फ्रांस ने कट्टरपंथ के हमलों से प्रभावित होते हुए भी ब्रिटेन और अमेरिका के विपरीत उदारवाद का चुनाव किया है। इमैनुएल मैक्रो की जीत इसका प्रमाण है। तथापि वैश्विक लहर भूमंडलीकरण के विरुद्ध ही निर्मित हो रही है।

प्रश्न उठता है कि अब भविष्य में क्या होगा। क्या जिस कट्टरपंथ का उदय 1979 के ईरानी इस्लामिक क्रान्ति से माना जाता है, वह अफगानिस्तान, पाकिस्तान बरास्ते मध्यपूर्व होते यूरोप को अपने में समाहित कर लेगा या फिर मानवता इसे रोकने का कोई मार्ग खोज निकालेगी।

चुनौतियाँ न केवल पद्धति सम्बन्धित है बल्कि विषय-वस्तु सम्बन्धित भी है। जिनका तीव्र गति से उचित पद्धति की खोज करते हुए अध्ययन कर मानवता का मार्गदर्शन करना होगा। हमारी वीथिका इन चुनौतियों के हल के लिए न केवल प्रेरित करती है बल्कि मंच भी प्रदान करती है। आइये हम सब मानवता का मार्ग प्रशस्त करने में जुट जायें।

मन्जुल बिबट्टी

समाजवाद: सिद्धान्त व व्यवहार (भारत के संदर्भ में)

डा० अंशु केडिया*

समाजवाद (Socialism) एक आर्थिक-सामाजिक दर्शन है। समाजवादी व्यवस्था में धन-सम्पत्ति का स्वामित्व और वितरण समाज के नियन्त्रण में रहता है एवं निजी सम्पत्ति पर आधारित अधिकारों का विरोध करता है। राजनीति के आधुनिक अर्थों में समाजवाद को खुली बाजार व्यवस्था के सिद्धान्त के विपरीत देखा जाता है। समाजवाद एक लोकप्रिय विषय है जिस पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से बहुत कुछ लिखा गया है।

ब्रिटिश राजनीति विज्ञानी हैरॉल्ड लॉस्की ने कभी समाजवाद को एक ऐसी टोपी कहा था जिसे कोई भी अपने अनुसार पहन लेता है। समाजवाद की विभिन्न किस्में लॉस्की के इस चित्रण को काफी सीमा तक सही सिद्ध करती हैं। समाजवाद की एक किस्म विघटित हो चुके सोवियत संघ के सर्वसत्तावादी नियंत्रण में चरितार्थ होती है जिसमें मानवीय जीवन के हर सम्भव पहलू को राज्य के नियंत्रण में लाने का आग्रह किया गया था। उसकी दूसरी किस्म राज्य को अर्थव्यवस्था के नियमन द्वारा कल्याणकारी भूमिका निभाने का मंत्र देती है। भारत में समाजवाद की एक अलग किस्म के सूत्रीकरण की कोशिश की गयी है। राममनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायण और नरेन्द्र देव के राजनीतिक चिंतन और व्यवहार से निकलने वाले विचार को 'गाँधीवादी समाजवाद' की संज्ञा दी जाती है। लेकिन समाजवाद की आधुनिक और औपचारिक परिकल्पना फ्रांसीसी विचारकों सैं-सिमों और चार्ल्स फूरिए तथा ब्रिटिश चिंतक राबर्ट ओवेन की वैचारिक योगदान से निकली है। समाजवाद के ये शुरुआती विचारक व्यक्तिवाद और प्रतिस्पर्धा की जगह आपसी सहयोग पर आधारित समाज की कल्पना करते थे। उन्हें विश्वास था कि मानवीय स्वभाव और समाज का विज्ञान गढ़ कर सामाजिक

* असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज शास्त्र, ए.पी.सेन मेमोरियल गर्ल्स (पी.जी.) कॉलेज, लखनऊ।

ताने-बाने को बेहतर रूप दिया जा सकता है

उद्योगीकरण और शहरीकरण की तेज गति तथा पारम्परिक समाज के अवसान जैसी उथल-पुथल ने मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवाद के विचार की पृष्ठभूमि को विकसित किया। मार्क्स ने सैं-सिमों, फूरिए और ओवेन के विचारों से प्रेरणा तो ली, लेकिन अपने 'वैज्ञानिक' समाजवाद के मुकाबले उनके समाजवाद को 'काल्पनिक' घोषित कर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से समाजवाद को स्वीकार किया है। उसके पूर्व वह समाजवादी और उसकी विरोधी सभी राष्ट्रीय विचारधाराओं का एक संयुक्त मोर्चा थी, परंतु उस समय भी वह समाजवादी विचारों से प्रभावित थी। एक प्रकार से उसने कंराची प्रस्ताव (1931) में कल्याणकारी राज्य का आदर्श स्वीकार किया था, कांग्रेस मंत्रिमंडलों (1937) के बनने के बाद सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में एक योजना समिति की नियुक्ति की गई थी और स्वराज्यप्राप्ति के बाद तुरंत ही वर्गविहीन समाज का विचार सामने आ गया। स्वराज्य के बाद यद्यपि संगठित समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गए, तथापि उसके अंदर समाजवादी तत्व, विशेषकर उसके सर्वप्रमुख नेता जवाहरलाल नेहरू, प्रभावशील रहे, अतः कांग्रेस के आवढी अधिवेशन (1957) में समाजवादी ढंग का समाज और भुवनेश्वर अधिवेशन (1964) में लोकतंत्रात्मक समाजवाद का लक्ष्य स्वीकार किया गया। उसका नियोजित अर्थव्यवस्था, समाज सुधार, कल्याण राज्य और लोकतंत्र में विश्वास था और उसकी विदेशी नीति पाश्चात्य तथा पूर्वी गुटों के शक्ति संघर्ष से अलग रहकर शांति की शक्तियों को मजबूत करने की थी।

1976 में 42 वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना को बदला गया। उसी के द्वारा 'सोशलिस्ट' तथा सेकुलर अवधारणाओं को संविधान में जोड़ा गया। मूल संविधान में भारत को 'लोकतांत्रिक गणराज्य' कहा गया था, लेकिन इस संशोधन के बाद वह 'लोकतांत्रिक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष

गणराज्य' में बदल दिया गया ।

देश की आजादी के साथ भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनायी थी । वे क्षेत्र जो अधोसंरचना से जुड़े थे जिसमें अधिक पूंजी निवेश की जरूरत थी या सामरिक महत्व के थे सरकारी नियंत्रण में रखे गए व शेष निजी के नियंत्रण में । यह व्यवस्था 1990 तक चलती रही जब तक वैश्विक अर्थव्यवस्था में उठापटक शुरू नहीं हुयी और विश्व, कुछ एक अपवादों को छोड़कर एकतरफा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तरफ नहीं झुका । भारतीय सरकारें जनमानस व गठबंधन राजनीति के दबाव के कारण कभी धीरे से तो कभी तेजी से परन्तु पूंजीवाद की राह पर बढ़ती ही गयी ।

पूर्वी यूरोप की साम्यवादी सरकार के पतन , 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध व 21सदी के पूर्वार्द्ध में वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण प्रक्रियाओं की वैश्विक स्तर पर स्वीकृति से 'समाजवाद की मृत्यु' जैसे शब्दों को हवा मिलने लगी । वैश्वीकरण ,उदारीकरण व निजीकरण की प्रक्रिया, आर्थिक सुधार से जुड़ी हैं । आर्थिक सुधार मसलन आर्थिक क्षेत्र में सरकारी अहस्तक्षेप की नीति । यह नीति सरकारों से अपेक्षा करती है कि वह आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में अपना हस्तक्षेप कम करती जाये व व्यवस्था को निजी क्षेत्र के माध्यम से फलने फूलने का अवसर दे ।

पूंजीवाद के इस वैश्विक दबाव ने ही समाजवाद के आलोचकों को यह कहने का अवसर दे दिया कि समाजवाद मर गया, पर समाजवाद क्या कभी वास्तव में मर सकता है? यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम समाजवाद को केवल यूरोपीय घटना चक्रों में ही क्यों देखते हैं इसकी मूलभावना में क्यों नहीं । वास्तव में जब तक सामाजिक सांस्कृतिक व आर्थिक आधार पर मनुश्य-मनुश्य में भेद रहेगा समाजवाद की भावना जीवन्त रहेगी । इस विचारधारा के पोषण में गौतम बुद्ध से लेकर मार्क्स-गिल्स, गांधी व डा0 लोहिया के विचार महत्वपूर्ण हो जाते हैं परन्तु यह विचारधारा कुछ पूर्व निश्चित सिद्धांतों और प्रणालियों से कही उन्मुक्त है व सतत गगतिमान हैं ।

वर्तमान में भारत डार्विन की सर्वाइवल आफ द फिटिस्ट नीति का

●●● वीथिका ●●●

अनुगामी बन चुका है जो सक्षम के पक्ष में झुकी है। रिचर्ड जे0 बार्नेट और रोनाल्ड ई म्यूलर की पुस्तक 'ग्लोबल रीच' से लिये गये कार्यक्रम आज नीति नियंताओं की प्राथमिकता बन गये हैं। विदेशी तकनीक पर निर्भरता, सरकारी क्षेत्र का निजीकरण, खास लोगों व उनके बच्चों के लिये शिक्षा रोजगार के खास साधन व अन्य की अवहेलना, गरीबों पर परोक्ष कर बढ़ाते जाना, निजीकरण व संविदाकरण की नीतियों से श्रमसभों व जन प्रतिनिधि संस्थानों को हतोत्साहित करना, कुछ व्यक्तियों को इतना शक्तिशाली करना कि वह कारपोरेट कम्पनियों से एक वर्ग विशेष के लिये सौदेबाजी कर सके, राष्ट्रीय नि'ठा के परे जाकर इसी एक वर्ग विशेष के लिये प्रचार प्रसार माध्यमों को लगाना, लगातार व्यस्त रखने वाले खेलकूद, उत्सव, मेले, अभियानों को चलाकर जनता को वास्तविक मुद्दों से भटकाने वाले अभियानों को शह देने की रणनीति इसके उदाहरण हैं। यह कार्यक्रम कभी भी जनोन्मुख नहीं हो सकते। यहाँ रिलायंस कम्पनी को अरबों रुपये का मुनाफा होता है और हम समझते हैं कि देश का जीडीपी दो फीसदी बढ़ गया है क्योंकि यह विकास मापक आर्थिक पैमाना यही है कि जब रिलायंस का पैसा बढ़ेगा तो देश का जीडीपी बढ़ेगा व लेकिन उसके बढ़ने से बाकि समाज की आमदनी बढ़ी क्या? क्या जो कल दो रोटी के लिए संघर्ष कर रहा था उसे भर पेट भोजन मिलने लगा? सरकारों का पूरा रुझान विदेशी व निजी निवेश व इसके लिये अधोसंरचना विकास पर केन्द्रित हो गया है। बजट आबंटन में सेवा क्षेत्र (शिक्षा, स्वास्थ्य आदि) की हिस्सेदारी कम हो गयी है। भारत जैसा देश जो गांवों में बसता है वैविध्यपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक विशेषताओं से घिरा है, वहां पर देशी व विदेशी कारपोरेट द्वारा थोपित नीतियां कभी भी ग्रामीण जन के लाभोन्मुख नहीं हो सकती। अधोसंरचनात्मक विकास के नाम पर कृषि योग्य जमीन पर गि) दृष्टि ने समस्या को और जटिल बना दिया है। आज जब जरूरत है ऐसी नीतियों के बनाने की जो ग्राम कन्द्रित हों, तब शहरों को केन्द्र में रखकर ही विकास की नीतियां बनायी जा रहीं हैं। जर्बदस्ती थोपित व शहर केन्द्रित नीतियां पुरातन आत्मनिर्भर ग्रामीण

अर्थव्यवस्था को छिन्न भिन्न कर ग्रामीणों में पलायन, खाद्यान्न संकट, आत्महत्याओं के दौर को बढ़ा रही है। आज सबके पेट भरने वाले किसान को ही दो जून की रोटी जुटाना मुश्किल हो गया है नतीजतन गांव का हर दूसरा व्यक्ति रोजगार के लिये पलायन करने के लिये मजबूर हो रहा है।

औद्योगिक क्रांति के गर्भ से पैदा मशीनी सभ्यता को गांधी जी मनुष्य की नैसर्गिक शक्तियों को क्षीण करने वाला मानते थे। इसके विकल्प के रूप में उन्होंने ऐसी सभ्यता की बुनियाद रखने की कोशिश की जिसमें मानव और प्रकृति के बीच समरसता का सम्बन्ध हो। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था युक्त आत्मनिर्भर गांव की कल्पना की। बड़े पैमाने पर उद्योग की जगह कुटीर उद्योग और छोटे पैमाने के उत्पादन को प्रमुखता दी तथा अधिकाधिक उपभोग के स्थान पर सादगी बरतने तथा भौतिक आवश्यकताओं की दौड़ से बचने की सलाह दी। दरिद्रनारायण व सादा जीवन उच्च विचार जैसे यदि गांधी जी विचारों को माना जाता तो आर्थिक समस्याओं से जूझना नहीं पड़ता। वैश्विक ग्लोबल वार्मिंग के बढ़ते खतरे का सामना नहीं करना पड़ता। उत्तराखंड, जम्मू कश्मीर जैसी भयावह प्राकृतिक घटनाओं के आमंत्रण से भी बचाव हो जाता व आतंकवाद, नस्ल, लिंग, जाति आधारित किसी भी प्रकार के भेदभाव, भ्रष्टाचार, गरीबी-अमीरी के भेद जैसी समस्याएं, जन्म ही नहीं लेती।

यहां पर लोहिया जी के समाजवादी विचारों को भी समझना जरूरी हो जाता है उनका सारा आंदोलन समाजवाद को ही स्थापित करने के लिये केन्द्रित रहा। उन्होंने सप्तक्रांति के माध्यम से समाजवाद का मुखरता से खाका खींचा। इस खाके में नर-नारी के बीच समानता की बात की, काले-गोरे के बीच नस्लीय भेद दूर करने की बात की, वर्ण-जाति आधारित सामाजिक-सांस्कृतिक भेद उन्मूलन की बात की, विदेशी गुलामी से छुटकारा और लोकराज्य स्थापित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। बुर्जआजी आर्थिक व्यवस्था का विरोध किया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की हिमायत की और आतंक, अस्त्र-शस्त्र के उपयोग की खिलाफत की। इस सप्तक्रांति के माध्यम

●●● वीथिका ●●●

से लोहिया जी ने अपने सपनों के जिस भारत को गढ़ने का सपना संजोया वह आज भी अधूरा ही है। विभिन्न संवैधानिक व विशेष अधिकारों के मिलने के बावजूद आज भी बेटी के पैदा होने पर घर में मायूसी फैल जाती है। आज भी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था ही समाज में महिलाओं का स्थान निर्धारित कर रही है। पश्चिमी देशों की श्रेष्ठता की अंध भावना भारतीय जनमानस की वैचारिकी व जीवनशैली में परिलक्षित हो रही है। विभिन्न प्रयासों के बावजूद भी अस्पृश्यता व दलित उत्पीड़न के समाचारा पढ़ने व सुनने को मिल जाते हैं। अंग्रेजी उपनिवेशवाद से बड़ी जददोजहद के बाद मिली मुक्ति के बाद आज हम पुनः बहुराष्ट्रीय कम्पनी शासित नव उपनिवेशवाद में घिरते जा रहे हैं। किसी तरह एफ डी आई आ, इसके लिये हर तरह के प्रयास किये जा रहे हैं। रेल व्यवस्था जो आज भी लाभ की स्थिति में है उसमें भी 100 प्रतिशत विदेशी निवेश की स्वीकृति दे दी गयी है। आज का भारत भ्रष्ट व निरंकुश राजनैतिक औद्योगिक दिग्गजों के गठजोड़ में बदल गया है। भारत में जो महल दिख रहें हैं, वह ताकत की ऍठ का प्रदर्शन है यह ताकत आयी उस अथक परिश्रम से थी जो वास्तव में करोड़ों गरीबों ने किया। पहले ये महल सामंती महाराजाओं व नवाबों के थे आज वे दलाल स्ट्रीट और नरीमन प्वाइंट पर रहने वालों के बन गए हैं। लोहिया की उन बातों को आज थॉमस पिकेटी की चर्चित पुस्तक 'कैपिटल इन द ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी' के माध्यम से देखेंगे, तो वे ज्यादा प्रासंगिक होंगी। थॉमस पिकेटी कहते हैं कि पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच 1917 से 1989 तक चले द्वंद्वबहुत सारी सच्चाइयां ढक गये थे, क्योंकि उन्हें पक्षपाती ढंग से देखा जाता था। अब जबकि दुनिया एक ही खेमे में सिमट गयी है, तो बहुत कुछ साफ होता जा रहा है। पिकेटी कहते हैं कि उदारीकरण के दौरान दुनिया में असमानता तेजी से बढ़ी है। भारत में इसका रिकॉर्ड अमर्त्य सेन और ज्यां ट्रेज अपनी किताब 'द अनसर्टेन ग्लोरी' में पेश करते हैं। पिकेटी ने धन के इतिहास का विस्तृत तौर पर विवेचन करके बताया है कि धन का भंडार जितनी तेजी से बढ़ता है, उतनी तेजी से काम करनेवालों की आय नहीं बढ़ती। इसलिए दुनिया में आज जो आर्थिक ढांचा

चल रहा है, उसमें असमानता बढ़नी ही है।

समस्याओं के इस दौर में समाजवाद की आवश्यकता को केवल एक सैद्धान्तिक संतुष्टि के रूप में समझना समस्या से पलायन करना है। यह केवल एक सिद्धान्त नहीं है वरन एक व्यावहारिक प्रक्रिया है जो सदैव गतिमान है। स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व की भावना को लागू करने के लिये इसकी जरूरत को आज और भी शिददत से महसूस किया जा रहा है।

संदर्भ समूह –

1. मस्त राम कपूर, कल की राजनीति, प्रकाशक-लेखक मंच, मयूर विहार, नयी दिल्ली 1997
2. के विक्रम राव, डा0 राम मनोहर लोहिया आज के संदर्भ में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड नयी दिल्ली 2012
3. कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी, जोसेफ शुएम – पीटर 1942, हार्पर एण्ड ब्रदर्स।
4. <https://en-wikipedia-org/wiki/Socialism>
5. समाजवाद रंजन के कलम से ranjanwa-blogspot-com/2016/04/blog&post_8-html
6. समाजवाद <https://hi-wikipedia-org/s/5-8> मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से
7. भारतीय समाजवाद <https://hi-wikipedia-org/s/2177>, मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से
8. एसेज ऑन सिग्नी फीकेंस ऑफ सोशलिज्म इन हिन्दी
9. www-essaysinhindi-com/law/socialism/lektokn&dh---/4059 Article shared by : Rashmi B
10. उदारीकरण के समय में लोहिया का समाजवाद by Prabhat Khabar
12. www-prabhatkhabar-com/news/special&news/story/365164-html

उत्तर भारत में धार्मिक परियोजन :

जयगुरुदेव पंथ

आरती विश्वकर्मा*

भारत एक प्राचीन योगी, योगेश्वरों, ऋषियों, मुनियों, सन्तों, महात्माओं, धर्माचार्यों, दानवीरों, सिद्धो और त्यागियों का केन्द्र रहा है। इन अध्यात्मवादियों में भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी अपने ज्ञान का परचम फहराया है। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण अध्ययन जी०एस०धुरिए ने किया जोकि "भारतीय साधू" नाम से प्रकाशित हुआ। यह अध्ययन धार्मिक परियोजन के संदर्भ में बहुप्रचलित पंथ जयगुरुदेव पंथ का विश्लेषण करता है।

परियोजन के सामान्य परिचय के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन अथवा किसी अन्य संख्या में जनता को सक्रिय बनाने की प्रक्रिया है। इसे अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने का साधन भी कहा जा सकता है। परियोजन को सामाजिक व्यवस्था के प्रकार्य के रूप में देखने का प्रयास किया गया है। (नेटल, 1967) परियोजन को प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष प्रकारों को व्यवस्थात्मक विश्लेषण द्वारा समझने का प्रयास किया गया है, 'परियोजन अनिवार्य रूप से (1) अभिवृत्तिक कार्यवाही के प्रति वचनबद्धता तथा (2) इस वचनबद्धता को कार्यवाही या प्रेक्षणमूलक व्यवहार में बदलने का साधन है।' (नेटल, 1967)

परियोजन एक प्रक्रिया है जिसमें सामूहिकता दृष्टिगत होती है, ऐसी सामूहिक क्रिया जो अपने लक्ष्यों को प्रयासरत रहती है। यह प्रक्रिया परिवर्तन को लाने के लिये जन समूह का एकत्रीकरण है जोकि गतिशीलता को इंगित करता है। परियोजन को एक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है परियोजन के अध्येयताओं में विभाजित किया है तथा समय तथा स्थान दोनों संदर्भों में इसका अध्ययन किया गया है। प्रमुखतः परियोजन का अध्ययन दो

* शोधा छात्रा, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

संदर्भों में हुआ है। इतिहासिक संदर्भ जो परियोजन घटित हो चुके हैं तथा जो वर्तमान जारी परियोजन हैं। (बरूआ, 2001)

परियोजन की अवधारणा एक विश्लेषणतात्मक प्रश्न है। तथा परियोजन की ऊर्जा के स्रोत क्या है? परियोजन से पहले वो स्थितियाँ दशाएँ तथा कारण है जिनमें लोग परियोजित होते हैं जैसे शोषण, दमन, वंचना, सापेक्षिक वंचना तथा नागरिक समाज की स्वायत्ता का हनन ये कारण तथा दशाएँ परियोजन का आधार बनते हैं। सर्वप्रथम परियोजन विश्वयुद्ध के दौरान रक्षा कार्य के लिये हुआ था। परियोजन कुछ मुद्दों अथवा विषयों पर हुए हैं तथा इनके अध्ययन की पद्धति क्या है? तथा परियोजन के क्या कारण थे? समय-समय पर इसका अध्ययन हुआ। कुछ मुद्दे जैसे सामाजिक असमानता, निर्धनता, अल्पसंख्यक समूह, शोषण, नृजाति, पहचान, लौगिक असमानता, पर्यावरण जैसे कुछ प्रमुख कारण रहे हैं। पिछले पांच दशकों के दौरान समाज वैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा इस विषय पर अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन हुए हैं। परियोजन तथा आन्दोलन का उदभव क्यों और कैसे हुआ? इनके अध्ययन के लिये कैसे समाजशास्त्री दृष्टिकोण का प्रयोग किया जाए? यही सारे प्रश्न इस विषय के अध्येताओं का मार्गदर्शन करते हैं। तथा अनेक लेख सोशियोलाजिकल बुलेटिन" में प्रकाशित हो चुके हैं। (साहू)

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था की संरचना तथा इसकी संस्थाओं का अध्ययन करना और आन्तरिक कारकों तथा बाह्य कारकों के संयोगों द्वारा सामाजिक व्यवस्था की स्थायी प्रक्रिया तथा परिवर्तन का अध्ययन करना है परियोजन सामाजिक आन्दोलन के पाँच कारकों में से एक है। एक कुशल परियोजन आन्दोलन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अनेक समाज वैज्ञानिकों ने आन्दोलन को कई श्रेणियों में विभाजित किया है। राल्फ0एच0 टर्नर और लेविस एम0किलिअन (1957) मुख्यतः आन्दोलन को तीन भागों में विभाजित किया है—

मूल्योन्मुख, शक्तिउन्मुख, सहभागी उन्मुख

●●● वीथिका ●●●

डेविड एर्बल (1966) ने रूपान्तरणात्मक, सुधारात्मक, वैकल्पिक तथा मुक्तिप्रद (विमोचक) श्रेणियों में विभाजित किया है। (साहू)

आन्दोलन की श्रेणियों के आधार पर तथा परियोजन पर हुए अध्ययनों के आधार पर परियोजन को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

1. सामाजिक परियोजन
2. राजनीतिक परियोजन
3. धार्मिक परियोजन
4. पर्यावरणीय परियोजन
5. नृजाति परियोजन

किसी भी समाज के संगठन, उसकी उपलब्धियों और प्रगति का अंकन करते समय उसके धर्म की पृष्ठभूमि और समाज के सदस्यों को प्रभावित करने वाले धार्मिक कारकों का अध्ययन आवश्यक है। धार्मिक विश्वास और श्रद्ध की समूह में सुरक्षा और सहयोग की भावना को जन्म देते हैं। समाज की रचनात्मक अभिव्यक्तियों, विशेषकर उसके साहित्य और कला, सामाजिक गतिविधियों और क्रिया कलाप आदि पर धार्मिक विश्वासों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष छाप अवश्य रहती है। (एस0सी0दूबे, 1993) धार्मिक क्रियाओं के लिये दा बाते आवश्यक हैं: अतीन्द्रिय और दैवी शक्ति के प्रभावों की अनुभूति और उनके प्रति विश्वास और मान्यताएँ, व्यवहारों और प्रथाओं की सृष्टि। (दूबे)

धर्म और धार्मिक क्रियाएँ:— जब कभी धर्म पर विचार किया जाता है तो हम अपने स्वयं के धर्म की परिभाषा को गौण नहीं मान पाते। टायलर की संक्षिप्त परिभाषा इस सम्बोध को थोड़ा—बहुत स्पष्ट करने में सहायक होती है। वे 'आत्माओं में विश्वास' को ही धर्म मानते हैं। हम धर्म में तीन पक्षों का अस्तित्व पाते हैं: धार्मिक विश्वास, धार्मिक भावना, धार्मिक व्यवहार।

ये तीनों पक्ष मिलकर जिस संस्कृति संकुल की सृष्टि करते हैं, उसे धर्म कहते हैं। रहस्यमय और अज्ञेय को समझने के लिये भावना का आधार

लिया है तब हम धर्म के क्षेत्र में प्रवेश कर लेते हैं। विश्वास को बाह्य अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति प्रायः सभी सभाओं में पायी जाती है। (दूबे) धर्म का अध्ययन समाजशास्त्रीय साहित्य में अगुआ कहा जा सकता है। धर्म का समाजशास्त्र वस्तुतः आदमी की धार्मिक गतिविधियों का या अति प्राकृत शक्तियों से जुड़े हुए व्यवहारों का अध्ययन करता है। तथा ईश्वरीय शक्ति, एक ईश्वरवाद, बहुईश्वरवाद, प्रतीक, पाप और पुण्य और जादू के प्रश्नों को उठाते हैं। मार्क्सवाद धर्म को भौतिक परिपेक्ष्य में देखता है। बेबर की विशेषता यह है कि धर्म का सम्बन्ध वे पूँजीवाद के साथ जोड़ते हैं तथा वेबर के अनुसार हिन्दूधर्म में ऐसे आचार नहीं हैं जो पूँजीवाद को बढ़ावा दे। वहीं दुर्खीम के अनुसार धर्म एक ऐसी शक्ति है जिसका उद्गम समाज है इसके द्वारा समाज के संगठन तथा एकता को सहायता मिलती है। (दोषी, जैन, 1996)

धार्मिक परियोजन धार्मिक अस्मिता के लिये जन समुदाय का एकत्रित होना तथा जिसका कारण निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति होता है कहा जाता है कि "जब-जब होहिं धरम की हानि तब-तब प्रभु धर मनुज शरीरा" अर्थात् जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब ईश्वर का मनुष्य रूप में जन्म होता है अर्थात् जब कुछ सामाजिक बुराईयां समाज में व्याप्त हो जाती हैं तो धर्मगुरु तथा समाजसुधारकों तथा समाज वैज्ञानिकों द्वारा समाज का पुर्नउत्थान किया जाता है। जिससे कि समाज प्रकार्यात्मक रूप से चलता रहे दुरखाइम स्वयं भी अपने धर्म के अध्ययन में यह मानते हैं कि धर्म का प्रकार्य समाज में एकीकरण करना है समाज को जोड़े रखना है।

जयगुरुदेव पंथ के उदभव एवं विकास का दीर्घ इतिहास है उत्तर प्रदेश का मथुरा में इसका मुख्य आश्रम है तथा देश के अन्य भागों में फैला हुआ है इस पंथ की विचारधारा धार्मिक, अध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, विचारों का गुच्छ है। पंथ के उद्देश्य का केन्द्र-बिन्दु "जनसमुदाय के हितों की रक्षा" "जीवों की रक्षा" "पारिवारिक व संसारिक सुख शक्ति" तथा जन समुदाय की मान प्रतिष्ठा बनाये रखना है। तथा एक प्रमुख उपदेश "शाकाहारी बनना" शाकाहार अपनाना। तुलसीदास इस पंथ के प्रणेता थे

●●● वीथिका ●●●

तथा वर्तमान में इसका संचालन पंकज जी महाराज द्वारा किया जा रहा है समय-समय पर इस पंथ के द्वारा अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। (पंकज, 2011)

जिसमें अधिक संख्या में जन परियोजन होता है और लोग पंथ की विचारधारा तथा उद्देश्यों का अनुशरण करते हैं। तथा विचारधारा के माध्यम से परिवर्तन की बात करते हैं।

कुछ प्रमुख उद्देश्य :-

1. धर्म की स्थापना के लिये कोई न कोई महान आत्मा का जन्म होता है।
2. बुरे कर्मों का त्याग करना।
3. आमदनी का दसवां हिस्सा दान करना।
4. हिंसा से बरक्कत चली जाती है।
5. मांस, मंदिरा का त्याग करना।
6. शाकाहार का अपनाना। (पंकज, 2014)

जयगुरुदेव पंथ की विचारधारा की समाजशास्त्रीय आधार पर तुलना की जा सकती है—

जिस प्रकार कार्ल मार्क्स सर्वहारा क्रान्ति और क्रान्ति के माध्यम से परिवर्तन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना की बात करते हैं। उसकी प्रकार यह पंथ वैचारिक क्रान्ति की बात करता है जो समाज को बुराईयों, अनीति, हिंसा से सदमार्ग पर ले जाये।

धर्म की स्थापना के लिये किसी महान आत्मा का जन्म होता है जैसा कि वेबर का मानना है कि जब समाज में तानाशाही का दबदबा होता है तो समाज में करिश्मा होता है जो सामान्य से भिन्न होता है।

यह पंथ पूंजीवादी का विरोध तथा अहिंसात्मक विचारों का पोषक है पूंजीवाद के द्वारा निर्धन और अधिक निर्धन तथा धनवान अधिक अधनवान बनते जा रहे हैं अर्थात् आर्थिक असमानता बढ़ती जा रही है यहां गांधीवादी विचारों की झलक मिलती है।

श्री अरविन्द ने अपनी विचारधारा में आत्मा और भौतिक दुनियाँ के बीच अन्तर को मिटाया है इन्ही विचारों से ओत प्रोत यह पंथ है।

जन परियोजन :- इस परियोजन में लाखों लोग सम्मिलित हैं सभी धर्मों के लोग जो इस पंथ में सम्मिलित हैं वो पंथ की विचारधारा का अनुसरण करते हैं। शाकाहार को अपनाते हैं। तथा अध्ययन में यह ज्ञात होता है कि 76 प्रतिशत लोग ग्रामीण क्षेत्रों से जूड़े हैं। 65 प्रतिशत पुरुष तथा 35 प्रतिशत महिलाएँ हैं। शैक्षिक स्तर पर कक्षा आठ से इण्टरमीडिएट के उत्तरदाओं की संख्या अधिक है। तथा सभी आजीवन इस पंथ से जूड़े रहना चाहते हैं।

शोध से प्राप्त नकारात्मक तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि सम्पूर्ण जनसंख्या शाकाहारी हो जायेगी तो अनाज के उपभोग की समस्या बढ़ जायेगी।

पंथ की विचारधारा दूध को शाकाहार कहती है जबकि दूध भी पशु उत्पाद (Animal Product) है।

कल्याणकारी कार्य मात्र कुछ शहरों तक सीमित है।

प्रचार माध्यमों की कमी है।

अनन्तः यह एक कुशल धार्मिक परियोजन है। जोकि अपनी विचारधारा के कारण अन्य पंथ निरंकार, साहबबन्दगी, राधास्वामी इत्यादि से भिन्न है।

निष्कर्ष—

इस विषय पर अध्ययन की कमी ही इस विषय के अध्ययन में जय गुरुदेव पंथ का एक धार्मिक परियोजन के रूप अध्ययन किया गया है तथा यह पाया गया है कि इस पंथ में सम्मिलित होने के बाद लोग शाकाहार को अपनाते हैं तथा पंथ के उद्देश्यों का पालन करते हैं। यह अध्ययन जयगुरुदेव पंथ में जनपरियोजन का विश्लेषण करता है।

संदर्भ —

1. बरूआ, जयन्ती, सोशल मोबीलाइजेशन एण्ड मार्डन सोसाइटी, मित्तल पब्लिकेशन, 2001

●●● वीथिका ●●●

2. दूबे, एस0सी0, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1993
3. दोषी, जैन, इमाइल दुखीम, राव पब्लिकेशन, जयपुर, नई दिल्ली, 1996
4. दोषी, जैन मैक्स वेबर, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, नई दिल्ली, 1996
5. नेटल, जे0पी0, पॉलिटिकल मोविलाइजेशन : ए सोशियोलॉजिकल एनेलिसिस ऑफ मैथड्स एण्ड कॉन्सेप्ट्स, लन्दन : फेबर एण्ड लि0, 1967 पृष्ठ 32-33
6. पंकज, महाराज, भविष्य की झलक अतीत के आइने से, जयगुरुदेव धर्म प्रचारक संस्था, मथुरा, 2011
7. पंकज, महाराज, भारत की यह भूमि उथल पुथल करेगी, जयगुरुदेव धर्म प्रचारक संस्था, मथुरा, 2011
8. पंकज, महाराज, एक नया समाज बनाना पड़ेगा, जय गुरुदेव धर्म प्रचारक संस्था, 2014
9. पंकज, महाराज, धर्म अधर्म और राजनीति, जयगुरुदेव धर्म प्रचारक संस्था, 2014
10. पंकज, महाराज, कलयुग माया का युग, जयगुरुदेव धर्म प्रचारक संस्था, 2015
11. साहू, डी0आर0, सोशियोलॉजी ऑफ सोशल मूवमेन्ट, स्टडीज इन इण्डियन सोशियोलॉजी, सेज पब्लिकेशन।

जनजातियों पर भूमण्डलीय बाजार का प्रभाव

डॉ० सैयद हसन रजा रिज़वी*

जनजाति का तात्पर्य मनुष्यों के ऐसे वर्ग अथवा समूह से है जिनकी पहचान उनके रीति-रिवाज, संस्कृति, रहन-सहन तथा परम्परागत व्यवसाय से है। यह एक ऐसा वर्ग है जो मनुष्य की आदिकालीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, इसी कारण हम इसे आदिवासी, असभ्य, आदिम तथा वान्य जाति से भी सम्बोधित करते हैं। घुरिये ने जनजाति को “पिछड़े हिन्दू नाम से सम्बोधित किया है।” जनजातियाँ भारतीय समाज व संस्कृति को विभिन्न संस्कृतियों का रूप प्रदान करती हैं। भारत में 532 जनजातियाँ निवास करती हैं, जो भारतीय जनसंख्या का लगभग 8.2 प्रतिशत भाग है। यह जनजातियाँ किसी एक निश्चित भौगोलिक भू-भाग पर निवास करती हैं जिनकी अपनी परम्परागत व्यवस्था होती है और किसी आदि पूर्वज से अपना उद्गम मानती हैं। प्रत्येक जनजाति की अलग-अलग एवं सामान्य संस्कृति होती है जो आधुनिक सभ्यता के प्रभावों से दूर रहती है। ये समूह सामान्यतः जंगलों तथा पहाड़ों पर निवास करते हैं, अन्तर्विवाही होते हैं, प्रत्येक जनजाति की अलग भाषा तथा समाज के नियम होते हैं और आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़े हुए और व्यवसायिक रूप से खेती और अपनी संस्कृति के व्यवसाय से सम्बन्धित होते हैं। ये आपस में संगठित होते हैं और इनमें रूढ़िवादिता और प्रथाओं से बंधे रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। डी०एन० मजूमदार के अनुसार “एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूह का संग्रह है जिसका एक सामान्य नाम होता है और जिसके सदस्य एक ही भू-क्षेत्र में निवास करते हैं, एक भाषा बोलते हैं और विवाह वृत्ति या व्यवसाय के प्रति कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा उनके परस्पर आदान प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिकता की एक सुनिश्चित व्यवस्था विकसित हो गई है।” आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार “जनजाति” विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकार करते हैं और

* एसोसिएट प्रोफेसर/विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, शिया पीजी कालेज, लखनऊ।

●●● वीथिका ●●●

साधारणतयः अपना एक समाज पूर्वज मानते हैं”, डी0एन0 मजूमदार ने जनजातियों की पहचान के सम्बन्ध में कहा है कि “प्रत्येक जनजाति का एक निश्चित नाम होता है जैसे सन्थाल, गारो, खासी तथा थारू आदि ये किसी गोत्र अथवा टोटम द्वारा एक परिवार या एक समूह के सदस्य एक दूसरे से बंधे रहते हैं। एक निश्चित भू-भाग एक जनजाति को परिभाषित करने का एक महत्वपूर्ण अंग है जिनके सदस्यों की भाषा एक ही होती है। इनमें व्यवसाय, विवाह और पेशे के सम्बन्ध में परम्परागत निषेध पाये जाते हैं और ये समूह के एक दूसरे सदस्य के साथ परम्परागत आधार पर लेन-देन और पारस्परिक दायित्वों के बन्धन में बंधे रहते हैं।

प्रत्येक जनजाति में राजनीतिक संगठन पाया जाता है जिसका मुख्य कार्य वहाँ की पंचायतें करती हैं। इनमें युवा गृह जैसी संस्थायें पाई जाती हैं तथा लड़कों एवं लड़कियों में स्कूली शिक्षा का अभाव देखा गया है। जनसंख्या के आधार पर ये जनजातियाँ छोटी तथा बड़ी होती हैं गोंड, मुण्डा, भील तथा सन्थाल जनजातियाँ जनसंख्या के आधार पर बड़ी तथा आँग और टोटो जैसी जनजातियाँ जनसंख्या के आधार पर बहुत छोटी हैं। विवाह हेतु जीवन साथी चुनने हेतु इनमें अनेक प्रथायें प्रचलित हैं। धार्मिक दृष्टि से ये धार्मिक विश्वासों, देवी देवताओं एवं जादू टोने की दृष्टि से भी प्रत्येक जनजाति अपना अलग स्थान रखती है कुछ जनजातियों में टोटमवाद प्रचलित है और इनमें धार्मिक निषेध जैसी प्रवृत्ति पाई जाती है। जनजातियाँ वनों से खाद्य संग्रह एवं शिकार पर आज भी निर्भर हैं। कुछ जनजातियाँ पशुपालन एवं चारागाही हैं कुछ जनजातियाँ झूम खेती और स्थानीय खेती कर रही हैं और इन पर औद्योगीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभावों को भी देखा जा रहा है। इनमें सांस्कृतिक विरासत पाई जाने वाली लोक कलाओं और हस्तकलाओं से भी उनकी पहचान बनाये हुए है। इस आधुनिक और भूमण्डलीय युग में यह देखा जा रहा है कि इन प्रक्रियाओं के आकर्षण के कारण जनजातियाँ संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया से गुजर रही हैं और हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में एक पृथक जाति के रूप में स्थापित हो रही है।

वैश्वीकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें विश्व की समस्त अर्थव्यवस्थाएँ एक दूसरे के साथ एक बंधन के रूप में बंधी हुई हैं, जिससे लगातार निरन्तरता व आपसी एकीकरण बढ़ रहा है। दूसरे शब्दों में विश्व की समस्त अर्थव्यवस्था सांचायुक्त अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत क्षैतिज तथा लम्बवत दो स्तरों पर एक साथ दिखाई दे रही है। वैश्वीकरण का आधार सार्वभौमिकरण है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व एक ग्राम अथवा समुदाय के रूप में देखा जा रहा है। परन्तु इसका उत्तर अभी तक स्पष्ट नहीं है कि ये व्यवस्था कैसी होगी व इसे चलाने वाला कौन होगा?

अपने सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक आयामों सहित वैश्वीकरण आज के युग में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं ज्वलनशील विषय के रूप में उभरकर सामने आया है। ब्लैकमैने ने 'Discovery of Sociology' के अन्तर्गत कहा है कि वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न समाजों का सामाजिक, राजनीतिक जीवन तथा व्यवसायिक क्षेत्र से लेकर संगीत, वेशभूषा एवं जनसंचार के क्षेत्र पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिक गति से प्रभावित हुआ है।

वैश्वीकरण के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक प्रतिबन्धों की आवश्यकता का विश्लेषण करते हुए समीर अमीन जो कि वैश्वीकरण एवं तीसरी दुनिया के देशों के प्रति उसके सम्बन्ध में विचार प्रकट करने वाले एक महत्वपूर्ण एवं चर्चित व्यक्ति हैं। इनके अनुसार—पूँजीवादी व्यवस्थाओं का वैश्वीकरण कोई नया तत्व नहीं है बल्कि आधुनिक समय में गुणात्मक दृष्टि से इसने एक कदम आगे बढ़ा दिया है और साथ ही अनेक राष्ट्रों के बीच गहराती निर्भरता इस समय दिखाई दे रही है। इसके साथ-साथ इसने संचय की समस्या को अत्यधिक गंभीर रूप प्रदान किया है। वर्तमान समय में वैश्वीकरण की क्षमता को किसी देश की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता जो विश्व व्यापार के सम्बन्ध में है के आधार पर परिभाषित किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा एक बहुआयामी शब्द है जो किसी देश की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक क्षमता को जो

●●● वीथिका ●●●

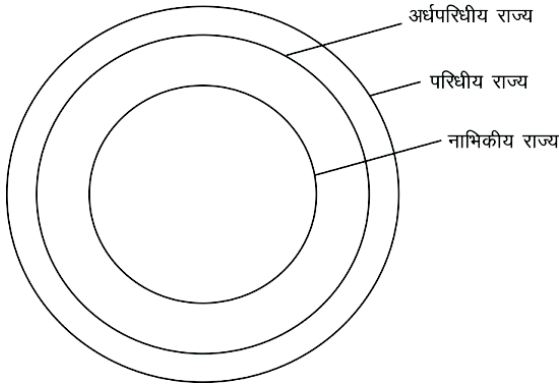
एकाधिकार विस्तृत होने से सम्बन्धित कहा जाता है। 'समीर अमीन' ने वास्तुकार के एकाधिकारों का वर्णन निम्न प्रकार किया है:-

1. प्रौद्योगिक अधिकार
2. आर्थिक विश्व विस्तृत व्यापार का अधिकार ।
3. विशिष्ट देशों में प्राप्त कच्चे माल को उपलब्ध कराने का अधिकार ।
4. संचार माध्यम एवं यातायात साधनों पर अधिकार ।
5. जनहत्या के शसस्त्रों पर एकाधिकार ।

'समीन अमीन' ने एक मानवीय योजना का वैश्वीकरण के लिए सुझाव दिया है जिसका मत है कि सम्पूर्ण विश्व के लिए एक राजनैतिक व्यवस्था का सूत्रपात होना चाहिए जिसका उद्देश्य विश्व व्यापार के लिए सम्बन्ध उपलब्ध कराना हो ।

Wallestien ने वैश्वीकरण जैसी व्यवस्था के सम्बन्ध में कहा कि इसके अन्तर्गत तीन राज्य होंगे:-

1. **नामिकीय राज्य**- इसके अन्तर्गत अमेरिका तथा जापान को माना गया है ।
2. **अर्ध परिधीय राज्य**- एशिया, यूरोप तथा दक्षिण पश्चिमी एशिया ।
3. **परिधीय राज्य**- एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका ।



वाल्सटीन द्वारा दी गई व्यवस्था से स्वाभाविक है कि प्रथम कोटि के

राज्य लाभान्वित होंगे और वैश्वीकरण की प्रक्रिया में वस्तुतः एक प्रकार का निगमीकरण होगा जिसके अन्तर्गत बहुराष्ट्रीय कम्पनियां परिधीय राज्य का शोषण करेंगी। यह प्रक्रिया संभवतः शुरू हो चुकी है। इस प्रक्रिया में उन्हीं राज्यों की राज्य सत्ता उनकी सरंक्षक होगी जिसका दबाव परिधीय राज्य सत्ताओं पर होगा, यही कारण है कि विकसित राज्यों ने अपने उत्पादन का संपूर्ण विश्व में प्रचार कर अपने को और अधिक विकसित किया है तथा अपनी पूंजी को बढ़ाया है। इस प्रक्रिया के कारण विकासशील देश अपने उत्पादन का विश्व की व्यापार मण्डी में प्रभाव दिखाने में असमर्थ हो रहे हैं और इनकी पूंजी में कमी आ रही है। इस प्रकार का शोषण इन विकासशील राज्यों में गरीबी तथा बेरोजगारी को बढ़ावा दे रहा है जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों की विकास दर रूकी हुई दिखाई दे रही है और ये विकसित राष्ट्रों के उत्पादन पर आश्रित दिखाई दे रहे हैं।

भूमण्डलीय बाजार एक ओर तो आर्थिक सुधारों जैसे विदेशी व्यापार का उदारीकरण, घरेलू बाजारों का उदारीकरण व उन्हें खोल दिया जाना, प्रत्यक्ष तथा विदेशी वस्तुओं का आपात निर्यात उनका खुली बजारों में आना अपनी तथा विदेशी वस्तुओं का आयात निर्यात बढ़ाना आदि, परन्तु इन सबका मनुष्य के आर्थिक तथा सामाजिक देशों पर पड़ रहा है बाजार में मानव अपने देश की वस्तुओं को छोड़कर विदेशी वस्तुओं की ओर भाग रहा है। आधुनिकीकरण औद्योगिकीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभावों से जनजातियाँ भी प्रभावित हुई है इनके प्रभावों से वनों का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है वनों पर जनजातियों का जीवन आश्रित है वे अपने जीवन यापन हेतु वनों में शिकार करके, खाद्यान्न संग्रह करके तथा खेती करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु आज वे बहुत से कारखानों तथा औद्योगिक केन्द्रों पर मजदूरी कर रहे हैं जिससे उनको आर्थिक दृष्टि से तो हानि पहुँची है इसके साथ-साथ उनकी स्वतन्त्रता को भी नुकसान पहुँच रहा है वे अब स्वतन्त्र नहीं हैं बल्कि दास बनकर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। प्रत्येक जनजाति की संस्कृति अलग-अलग होती है परन्तु इस युग में वे परसंस्कृतिग्रहण का

●●● वीथिका ●●●

शिकार हो रहे हैं। जनजातियों की लोक कलाएं एवं हस्त कलाएं उनकी सांस्कृतिक विरासत है, कुछ जनजातियां कुटीर उद्योगों द्वारा अपना जीवन व्यतीत कर रही है। टोकरी बनाना, चटाई बनाना, कपड़ा बुनना, लोहारी करना, बाँस की सुन्दर वस्तुएं बनाना इसके अतिरिक्त नृत्य तथा कलाबाजी दिखाना साँप नचाना आदि उनकी लोक कलाओं को परिभाषित करता है यही सब इनके आर्थिक स्तर को दर्शाते है।

भूमण्डलीय बाजार से इनके उत्पादन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है इनके द्वारा बनाई गई वस्तुओं को साहूकार निम्न मूल्यों पर क्रय करता है और उसके विनियम में इन्हें आधुनिक वस्तुओं को अधिक दाम पर देकर इनका शोषण करता है। इनकी गरीबी और शोषण के जो कारण हैं वे इनसे झूम खेती में उपयोग होने वाली भूमिका छीना जाना, इनकी हस्तकला को आधुनिक वस्तुओं के आकर्षण द्वारा निम्न स्तर पर पहुँचाना, मजदूरी करना, ऋणग्रस्त की समस्या, भूमिपृथकता की समस्या, व्यापारियों, साहूकारों तथा जमींदारों द्वारा उनको दास बनाकर उनका शोषण करना, वनों के लिए नए कानूनों की स्थापना करना तथा अशिक्षित होना आदि।

जनजातियों पर भूमण्डलीकरण और भूमण्डलीय बाजार का प्रभाव देखने को मिलता है जो उनके आकर्षण का कारण है वे अपनी संस्कृति विरासत के साथ साथ बाहरी संस्कृति से भी आकर्षित है और अनेक विदेशी वस्तुओं का प्रयोग कर रहे है। जिससे वे दो संस्कृतियों के बीच अपना जीवन व्यतीत करते देखे जा रहे है ये जीवन शैली उनको विरासत में मिली संस्कृति की प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं तथा रूढ़ियों को क्षति पहुंचा रही है।

सन्दर्भ —

1. हसनैन, नदीम — समकालीन भारतीय समाज —भारत बुक सेन्टर लखनऊ—2004
2. महाजन, धर्मवीर तथा महाजन, कमलेश, विवेक प्रकाशन दिल्ली—2016।
3. दुबे, एस.सी. ट्राइबल हेरिटेज ऑफ इंडिया, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

4. घुर्ये, जी.एस. कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया, पोपुलर प्रकाशन, बॉम्बे ।
5. मजूमदार, डी. एन, रेस एण्ड कल्चर इन इंडिया, युनिवर्सल पब्लिशर्स, लखनऊ ।
6. हसनैन, नदीम, ट्राइबल इंडिया, पालका प्रकाशन, नई दिल्ली ।
7. रॉयवर्मन, बी.के., ट्राइब्स इन पर्ससेक्टिव, मित्तल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली ।
8. राव, वी.कृष्णन, ग्लोब लाइजेशन ऑफ ट्राइवल, इकोनॉमी ।

भारत में कार्यरत महिलाओं की भूमिका में परिवर्तन

डॉ० नमिता श्रीवास्तव*

“पवित्र और सतीत्व तो भारतीय नारी की वह बहुमूल्य विधि है जो उसे अतीत काल से परम्परा से प्राप्त हुई। इसलिए स्वभावतः वह उसे समझती है। सर्वप्रथम, हमें उनमें इस आदर्श के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि वे इस आदर्श पर दृढ़ हो गयी, तो इसके फलस्वरूप उनका चरित्र इतना बलवान और दृढ़ होगा कि उसके प्रभाव वे अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपने पवित्र एवं सतीत्व की रक्षा करना अपना धर्म समझेगी चाहे वे विवाहित हो अथवा अविवाहित रहने का ध्रुव-संकल्प धारण किये हो।” (स्वामी विवेकानन्द)

हमारे देश में महिलाओं की स्थिति संस्कृति धर्म एवं कालानुसार निर्धारित है। भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। सभ्यता के विभिन्न चरणों में महिलाओं के स्थान को विभिन्न रूपों में एवं अर्थों में व्यक्त किया जाता रहा।

भारतीय महिलाओं की कालातीत प्रगति ने सम्पूर्ण विश्व में यह सिद्ध कर दिया है कि वह सर्वथा अपनी योग्यता में शासन प्रशासन को सफलतापूर्वक संचालित कर सकती है। जबकि उनकी पराजय विश्व का युगान्तर से प्रचलित रूचि का विषय रहा है। किसी भी समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक नियमों के स्तर का मूल्यांकन वहाँ पर महिलाओं की स्थिति से किया जा सकता है।

मानव जीवन में महिलाओं की भूमिका का नैतिक मूल्यांकन उनके स्वयं के विकास के रूप में दृष्टिगत किया जा सकता है। भारत के स्वतंत्रता से पूर्व महिलाओं के संघर्ष पर तथा उनकी समय-समय पर भूमिका में परिवर्तन एवं स्वयं उनके प्रयासों एवं समाज के सहयोग से वह नवीन पहचान

* पी.एच.डी. (समाजशास्त्र), पूर्व प्रवक्ता, हीरा लाल यादव बालिका डिग्री कालेज, लखनऊ।

स्थापित कर उन्नति की ओर अग्रसर हुई।

शहर और गाँव की जनसंख्या के आधार पर 2011 में 80% शहरी महिलाएँ शिक्षित हैं जबकि 59% ग्रामीण महिलाएँ शिक्षित हैं।

महिलाओं ने उच्च शिक्षा के अन्तर्गत 45.9% पी.जी. की विद्यार्थी हैं जबकि 40.5% महिलाएँ पी.एच.डी. की विद्यार्थी हैं।

अब महिलाएँ परास्नातक की शिक्षा पूर्ण करने के बाद योग्यतानुसार महाविद्यालयों के अध्ययन को प्राथमिकता देती हैं। इस कार्य में जीवन शान्तिपूर्ण होता है। तथा कार्यशील माताएँ अपने बच्चों के प्रति भी भूमिका निर्वाह कर सकती हैं।

अल्पसंख्यक में अन्य व्हाइट कॉलर कार्यों में भी कार्यरत महिलाएँ जैसे ए.आई.आर. की उद्घोषिका, टेलिविजन, रेलवे स्टेशनों की उद्घोषिका, स्टोरकीपर, स्टेनोग्राफर, रिशेप्सनिष्ट आदि ये सभी कार्य प्रचलित नहीं हैं किन्तु कठिनाता से प्राप्त कार्यों को छोड़ना भी असाध्य है।

15% कार्यरत महिलाएँ उच्च नौकरियाँ जैसे आई.ए.एस., आई.पी.एस., आई.आर.एस. आदि में भी सलंग्न हैं। ये सभी कार्यरत महिलाएँ सम्मानजनक वेतन प्राप्त कर स्वनिर्धारित व सुविधाजनक जीवनशैली को अपना रही हैं।

परम्परागत रूप में पुरुष आय को अर्जित कर परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नियुक्त था तथा महिलाएँ पूर्णतः उस पर आश्रित होती थीं। इस प्रकार वह अधीनस्थ एवं निर्णय लेने में परतंत्र थी किन्तु आधुनिक समय में महिलाएँ शिक्षित एवं परिवार के मुद्दों पर अपने विचार रखने के लिए स्वतंत्र हैं। आज जबकि महिलाएँ स्वयं आय अर्जित कर परिवार के व्यय में बराबर सहयोग दे रही हैं। वह शिक्षा वस्तुओं की खरीदारी बजट बनाने में अपने द्वारा प्रवृत्त निर्णय को सम्मिलित करने की भी इच्छुक हैं।

भारत में शिक्षित महिला का विवाह एवं कार्य दोनों ही सामाजिक रूचि एवं महत्व का विषय है विशेषता आधुनिक भारतीय शहरी परिक्षेत्र के

●●● वीथिका ●●●

सन्दर्भ में महिलाओं का घर से बाहर कार्य करना कोई नवीन अवधारणा नहीं है बल्कि ग्रामीण क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषों के समान निर्माण कार्य में कारखानों आदि में लम्बे समय से कार्यरत हैं किन्तु

मध्यम वर्ग की महिलाओं द्वारा घर के अतिरिक्त कार्यों के रूप में कार्यरत होना एवं नवीन अवधारणा है जबकि महिलाएँ अपने घरों की चहारदीवारी से बाहर निकल कर लाभकारी क्षेत्रों में कार्यरत हैं यह स्थिति भारत में विगत तीन दशकों से सामाजिक राजनीति आर्थिक परिवर्तनों का ही परिणाम है।

भारतीय समाज परिवर्तनशीलता के दौर से गुजर रहा है, परम्परागत मूल्य एवं प्रतिरूप स्वतः स्थापन्न होते जा रहे हैं। युवा कार्यरत महिलाएँ समाज को उचित दिशा देने में, विकसित होने में सहायक सिद्ध होने के साथ ही साथ नैतिक मूल्यों के प्रतिस्थापना का भी प्रयास कर रही हैं।

प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं के कार्य की उपयोगिता व महत्ता विद्यमान रही है, स्वयं के रख-रखाव व मानव समाज की सदस्य होने के स्तर पर क्रियात्मक कार्यों में संलग्न हैं। कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के विकास ने महिलाओं की भूमिका को अत्यन्त सहज व परिभाषित किया है, उनके कार्य उनके पति के कार्यों की तुलना में भिन्न हैं, किन्तु कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। भारत प्राथमिक रूप से कृषि प्रधान देश है, एवं महिलाओं का कार्यरत होना नवीन अवधारणा नहीं बल्कि वे सदैव पुरुषों से अलग, अनेक क्षेत्रों में कार्यरत रही हैं। उच्च वर्ग व मध्यम वर्ग की महिलाओं द्वारा विवाहोपरांत घर से बाहर निकलकर दुस्कर कार्यों में संलग्न होना ही एक नई अवधारणा है।

शिक्षित मध्यम वर्ग की महिलाओं द्वारा घर के अतिरिक्त कार्यालयों में कर्मचारी के रूप में कार्य करना सामाजिक परिवर्तन का द्योतक है। शिक्षित व कार्यरत महिलाओं के प्रयासों से समाज में हो रहे परिवर्तन अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि इसके साथ ही उनके नैतिक उत्थान को भी विश्लेषित किया जाता है। समाज में महिलाओं की शिक्षा एवं स्थिति समाज के विकास का प्रतीक है।⁽¹⁾ **माक्स** का विचार है कि—“सामाजिक विकास को महिलाओं की समाज की स्थिति के अनुसार ही मापा जा सकता

है।" स्वीडन के विद्वान Gustav Geige ने लिखा है कि "समाज में महिलाओं की स्थिति ही वह शुद्ध मानक है जो समाज के उत्थान को प्रकट करती है।"⁽²⁾ फुरीयर के अनुसार—"महिलाओं की स्थिति के अध्ययन का अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्धारित करता है। महिलाओं की स्थिति के निर्धारक ही परिवार में आदर्शवाद का आधार है।

शहरी क्षेत्र की महिलाओं की स्थिति विशेषतः शिक्षित कार्यरत महिलाओं की स्थिति का अध्ययन अत्यन्त महत्व रखता है क्योंकि वे भारतीय महिलाओं के परिवर्तन की नब्ज को पहचानती है। बारबरा वार्ड ने अपने एक अध्ययन में व्याख्यायित किया है कि कार्यरत महिलाएं समाज के या तो अत्यन्त निर्धन वर्ग अथवा अत्यन्त धनाढ्य वर्ग से सम्बन्ध रखती है। उनके विश्लेषण के अनुसार निर्धन वर्ग की महिलाएं आनुपातिक रूप से अपनी आवश्यकताओं से तथा धनिक वर्ग की महिलाएं आत्म-संतुष्टि के लिए कार्यरत होती हैं।⁽³⁾ किन्तु कपूर का मानना है कि यह वास्तविक स्थिति नहीं है वर्तमान में पिछले तीन दशकों की अपेक्षा मध्यम वर्ग की कार्यरत महिलाओं की संख्या में वृद्धि हो रही है।⁽⁴⁾

अनेक महिलाएं अनेक पिताओं के समान संसार में धनोपार्जन में अपने महत्व को स्थापित करना चाहती है। कुछ महिलाएं जिन्हें पूर्व में आर्थिक वैयक्तिकता का अनुभव है वे कार्य को आर्थिक सुरक्षा के रूप में निरन्तर करते रहना चाहती है। यदि पति पर्याप्त रूप से धनोपार्जन कर आजीविका नहीं चला पा रहा है अथवा अनुपस्थित है अथवा अस्थिर है तो ऐसी स्थिति में पत्नियाँ अजीविका अर्जित करने हेतु आत्मनिर्भर हो जाती है। अन्य शब्दों में एक माँ परिवार की आजीविका अर्जन में परिवार की अक्षमता की यह भावना भारत में प्रतिदिन सुदृढ़ होती जा रही है।⁽⁵⁾

ललितादेवी की भारतीय कार्यरत महिलाओं पर आधारित पुस्तक 1982 में प्रकाशित हुई अध्ययन के अनुसार— कार्य करने की स्थिति में महिलाएं परिवार कार्यालय एवं समाज में श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकती है। उसकी विभिन्न गतिविधियों से उसके स्तर की विभिन्नता को ज्ञात किया

●●● वीथिका ●●●

जा सकता है जैसा कि निर्णय लेने अपनी बात कहने की स्वतंत्रता आदि।⁽⁶⁾

डा० रघुनाथ रेड्डी की पुस्तक कार्यरत शिक्षित महिलाओं की परिवर्तित स्थिति में यह स्पष्ट है कि अब महिलाएं तकनीकी क्षेत्रों, चिकित्सा, अध्यापन एवम् परिचारिका के क्षेत्रों में भी प्रवेश कर रही है। वे पायलट, टैक्सी, ड्राइवर, पुलिस, राजदूत, मंत्री एवं राष्ट्र प्रमुख के रूप में भी नियुक्त हो रही है। वे आतंकरोधी सेनाओं में शामिल होकर इजराइल जैसे देशों में अत्यन्त कठिन एवं खतरनाक कार्यों में भी संलग्न है।⁽⁷⁾

यूनाइटेड स्टेट ऑफ अमेरिका के प्रतिष्ठित राजनीतिक का कहना है कि—“समाज में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है तथा राष्ट्र के द्वारा उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती है अतः वे राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित किये जाने योग्य है।”⁽⁸⁾

कार्यरत महिलाओं को कार्यरत होने के साथ ही घरेलू उत्तरदायित्व वहन करने होते हैं। कार्यरत महिलाएं स्वयं की संतुष्टि के लिए परिवार की आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने हेतु कार्यरत होने की दिशा में प्रेरित होती है। इस सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यक है कि पतियों की प्रवृत्ति अपनी पत्नियों के प्रति सहयोगात्मक हो। शारीरिक एवं मानसिक सबलता के सापेक्ष यह सत्य प्रतीत होते हैं कि महिलाएं प्रत्येक पटल पर अपनी भूमिकाओं का सन्तुष्टि दायक निर्वाह करने में सफल है। फिर भी जीवन की गाड़ी में पति पत्नी दोनों ही पहिये के समान गतिशीलता के लिए परस्पर एक दूसरे के पूरक होते हैं।

इस सन्दर्भ में यदि पति अति अपेक्षित होने के स्थान पर पत्नी के प्रति भावनात्मक स्नेह सम्बन्धों को सुदृढ़ करते हुए सहयोगी के रूप में कदम से कदम मिलाता है तो पत्नी भी समय की रफ्तार में पीछे नहीं छूटती बल्कि वह भी पति के कंधे से कंधा मिलाकर बच्चों एवं परिवार के साथ ही सामाजिक विकास की गाथा लिखने में सक्षम सिद्ध होती है।

परिवार के अन्तर्गत भी कार्यरत महिलाओं की इस नवीन भूमिका को स्वीकार कर लिया गया है अतः वे भी कार्यरत महिलाओं के प्रति सहयोग

एवं सहानुभूति का भाव व्यवहार रखते हैं।

कार्यरत महिलाओं का शोषणपूर्ण जीवन समाप्ति की ओर है क्योंकि वे रूढ़ियों को तोड़कर चहारदीवारी से बाहर निकल कर स्वतंत्रतापूर्वक विकास के अवसरों को चयनित कर रही हैं। भले ही उनके विकास की गति धीमी है किन्तु अन्ततः वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करके ही रहेंगी। आधुनिक समय में महिलाएँ बहुमुखी विकास करते हुए अपनी विभिन्न भूमिकाओं के साथ जीवन को आनन्दमयी बनाते हुए विश्वपटल पर स्थापित होने की इच्छुक हैं।

सन्दर्भ —

1. सिल्लस, डेविड (लिमिटेड), इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस न्यूयॉर्क, दी मेकमिल्लन कम्पनी एंड फ्री प्रेस 1968, वॉल्यूम 8 पुष्ठ 422।
2. सुलरोट इ, वीमेन सोसाइटी एंड चेंज लन्दन, वर्ल्ड यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी 1971, पेज 141।
3. वार्ड बारबरा, वीमेन इन न्यू एशिया, पेरिस यूनेस्को, 1963, सोशल चेंज इशू 1972 पेज 61।
4. प्रोमिला दी चेंज स्टेटस ऑफ वर्किंग वीमेन इन इंडिया, विकास पब्लिकेशन दिल्ली।
5. रानी कालकर, रोले कंफिलिक्ट इन वर्किंग वीमेन, चेतना पब्लिकेशन दिल्ली, 1978, पेज 162।
6. देवी ललिता, स्टेटस एण्ड एम्प्लॉयमेंट ऑफ वीमेन इन इंडिया, बी आर पब्लिकेशन कारपोरेशन दिल्ली 1982।
7. रघुनाथ रेड्डी, चेंजिंग स्टेटस ऑफ एडुकेटेड वर्किंग वीमेन, दिल्ली 1982।
8. एच् एलिथया के, वीमेन अराउंड दी वर्ल्ड एंड इंट्रोडक्टरी कमेंट साइंस, दी एनल्स ऑफ दी अमेरिकन अकादमी ऑफ पोलिटिकल एंड सोशल साइंस 1968, पेज 375।

भारत में दलित आन्दोलन

डॉ० इशरत जहाँ*

दलित शब्द का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के वर्ग से है जिसका मानव समाज में निम्न स्थान है और जो शोषण और उत्पीड़न का शिकार है दलित शब्द संस्कृत के व्युत्पन्न शब्द से सम्बन्धित है जिसका अर्थ शोषित अथवा दबाया हुआ है। समाज में दुर्बल, गरीब तथा निम्न वर्ग दलित कहलाता है। दलित शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ज्योतिराव फूले तथा भीमराव अम्बेडकर ने किया था। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी के पूर्व अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों के हिन्दु उच्च जातियों के प्रभुत्व वाले समाज में दरिद्रतापूर्ण एवं शोषित तथा उत्पीड़न के सम्बन्ध में किया था। भारत जैसे विकासशील देश में दलित शब्द का प्रयोग अनुसूचित जाति जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में किया जाता है जो गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। Vector Prem Sagar ने इस सम्बन्ध में कहा है कि “यह शब्द भारतीय समाज में कुछ लोगों की कमजोरी, निर्धनता तथा अपमान को व्यक्त करता है जो उन्हें उच्च जातियों के हाथों झेलना पड़ता है।” वैसे यदि देखा जाये तो भारत के उच्चतम न्यायालय ने दलित शब्द को असंवैधानिक माना है। J.M. Michael के अनुसार दलित शब्द जिसका प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1931 के आस-पास पत्रकारिता सम्बन्धी लेखों में अस्पृश्य जातियों के लिए किया गया। S. Jaikumar के अनुसार “दलित शब्द कोई अपमानजनक शब्द नहीं है बल्कि शोषित वर्गों की पहचान का एक सकारात्मक प्रतीक है तथा यह शब्द उनके उद्भव, जड़ों व इतिहास की समस्याओं का समाधान करता है।” दलित सचेतनता वास्तव में दलित पहचान एवं दलित इतिहास के प्रश्नों को अपने में समेटे हुए है और यह मुख्य रूप से आर्यवाद तथा बाह्यणवाद विरोधी है। यदि दलित स्त्रियों का समाज में स्तर देखा जाये तो उनकी हालत चिन्ताजनक दिखाई देती है, वे सबसे अधिक शोषित उत्पीड़ित, अशिक्षित, असहाय एवं अन्धविश्वासी दिखाई देती

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, शिया पीजी कालेज, लखनऊ

हैं। उनका स्तर भी समाज में शक्तिहीन, पृथक एवं परमपरात्मक प्रतीत होता है।

भारत में दलित अनेक दशकों से सामाजिक एवं आर्थिक रूप से शोषित, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक रूप से दासतापूर्ण जीवन गरीबी की रेखा के नीचे बिताते आ रहे हैं। अब उनमें भी समानता और स्वतंत्रता पाने हेतु क्रान्तिकारी प्रयासों को बल दिया जा रहा है जिससे वे अपने अस्तित्व और पहचान को सिद्ध कर सकें। Ghanshyam Shah के अनुसार "यह अनिवार्यतः एक राजनैतिक एजेण्डा है क्योंकि वे विभिन्न मुद्दों पर संघर्ष छेड़ते हैं और चुनावी राजनीति में भाग लेते हैं। उनका रास्ता कठिन एवं परिश्रमसाध्य है।"

ब्रिटिशकाल में यदि देखा जाये तो इस काल में अस्पृश्य जातियों की स्थिति बहुत दयनीय एवं चिन्ताजनक थी। उस समय आर्य समाज ने अपने सुधारवादी आन्दोलन के अन्तर्गत इन जातियों को दलित जाति के नाम से सम्बोधित करके इनके लिये अन्य हिन्दू जातियों की भाँति समान सुविधाएँ एवं समान अधिकार देने की आवाज उठाई। आर्य समाज का यह मानना था कि जिन जनजातियों को अछूत माना जाता है वास्तव में वे दलित जातियाँ हैं। इनके इस प्रयास से अनेक ब्रिटिश अधिकारी भी अछूत जातियों को दलित जातियों (Depressed Caste) कहने लगे परन्तु 1931 की जनगणना के आयुक्त J.H. Hutton ने इन जातियों को बाहरी जाति के नाम से सम्बोधित किया। उनका विचार था कि इन जातियों को हिन्दू जाति के समान अधिकार प्राप्त न होने के कारण इन्हें हिन्दू समाज से बाहर मानना उचित है। महात्मा गाँधी ने कट्टरवादी हिन्दुओं के विपरीत जाकर अछूत कहे जाने वाले व्यक्तियों को समाज का अभिन्न अंग मानकर उन्हें 'हरिजन' कहना प्रारम्भ किया। Dr. Majumdar ने परम्परागत अछूत जातियों और दलित वर्ग के बीच कोई अन्तर न मानते हुए लिखा है कि "अछूत जातियाँ वे हैं, जो बहुत सी सामाजिक और राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं जिनमें से अधिकांश निर्योग्यताओं को धार्मिक परम्परा के द्वारा निर्धारित करके उन्हें उच्च जातियों

●●● वीथिका ●●●

द्वारा लागू किया गया।”

दलितों को गरीबी, शोषित, अस्पृश्यता तथा उन्हें समानता का अधिकार दिलाने हेतु जिन लोगों ने आन्दोलन में अपनी मुख्य विचारधारा पेश की तथा भूमिका निभाई उनमें ज्योतिबा फुले तथा भीमराव अम्बेडकर के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं। ज्योतिबा फुले की प्रेरणाओं से 19वीं शताब्दी में जाति विरोधी आन्दोलन शुरू किया गया। यह आन्दोलन गैर ब्राह्मणवादी आन्दोलन के रूप में देखा गया जिसकी चिंगारियाँ महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु तक दिखाई दी और महाराष्ट्र में पैथर आन्दोलन शुरू हुआ। इसको आगे ले जाने का कार्य अम्बेडकर ने किया किन्तु दलित आन्दोलनों की व्याख्या सामाजिक रूप से अस्पृश्यता, अधिक शोषण, असमानता तथा राजनीतिक अत्याचारों के रूप में संतोषजनक रूप से की जानी चाहिए। दलितों द्वारा छेड़े गये आन्दोलनों ने स्वयं के व्यापक आधारभूत और समाज में समानता का अधिकार पाने तथा अस्पृश्यता को दूर करने हेतु उद्देश्यों का निर्माण किया। उन्होंने समाज में अपनी पहचान, आत्म विश्वास और आत्म निर्धारण के लिए अनेक संघर्ष किये, अत्याचार, शारीरिक शोषण, शारीरिक हिंसा, यौन शोषण, बन्धुआ मजदूरी, भूमि हीनता, अयोग्यता, निश्चित व्यवसाय, धार्मिक निषेध आदि पर आन्दोलन छेड़े। उनका उद्देश्य केवल अस्पृश्यता को दूर करना तथा निम्न वर्ग से अपने को उभारना नहीं था उपरोक्त दिये गये उद्देश्य भी उनके आन्दोलन के मुख्य कारक थे। इन्हीं आन्दोलनों के कारण संविधान में दलितों के उत्थान हेतु विभिन्न स्तरों पर आरक्षण व्यवस्था लागू की गयी। संविधान में नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से यह व्यवस्था की गई कि राज्य श्रमिक दलितों, पिछड़ों एवं गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य के वर्गों में उनके जीवन स्तर में सुधार तथा उनके लिये अनेक कल्याणकारी और विकास की योजनाओं का निर्माण करके उनके स्तर को सुधारने हेतु जल्द से जल्द उनको लागू करे। संविधान द्वारा दलितों के लिये किये गये उत्थान के कार्यक्रमों को देखते हुए उनके लिए सन् 2020 तक आरक्षण की व्यवस्था को बढ़ा दिया है। दलितों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देने के साथ उनको अनेक छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जा रही हैं। घनश्याम शाह

ने दलित आन्दोलनों की व्याख्या दो प्रकार से की है—

1. सुधारवादी आन्दोलन (Reformatory Movement)
2. वैकल्पिक आन्दोलन (Alternative Movement)

दलितों की समस्याओं एवं उनके समाधान हेतु दो प्रकार के आन्दोलन अथवा प्रयास देखने को मिलते हैं। सुधार आन्दोलन या गैर सरकारी प्रयास तथा सरकारी प्रयास सुधार आन्दोलन जाति प्रथा को सुधारने तथा अस्पृश्यता की समस्या का समाधान करता है। अनेक समाज सुधारकों द्वारा समय-समय पर जाति प्रथा और अस्पृश्यता को दूर करने हेतु आन्दोलन किये जाते रहे हैं, जिन समाज सेवकों के नाम इससे जुड़े हैं उनमें महात्मा बुद्ध, रामानुज, कबीर, चैतन्य, नानक, नामदेव, तुकाराम तथा रैदास आदि के लिये जाते हैं। आधुनिक दलित आन्दोलनों में डा० अम्बेडकर के आन्दोलन का महत्वपूर्ण स्थान है। डा० अम्बेडकर ने इन आन्दोलनों में एक 'महार' नाम से प्रसिद्ध आन्दोलन को संगठित किया एवं आगे बढ़ाया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू किये अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलनों में महाराष्ट्र का सत्य शोधक समाज जिसे ज्योतिबा फुले ने चलाया। तमिलनाडु को आत्म सम्मान आन्दोलन तथा बंगाल का धर्म आन्दोलन प्रमुख है। समकालीन समय में उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी का सम्पूर्ण संचालन डा० अम्बेडकर के विचारों और नीतियों पर आधारित है। 1920 में डा० अम्बेडकर द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने हेतु अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ तथा अखिल भारतीय दलित वर्ग फाउण्डेशन की स्थापना की गयी और इन संघों ने अस्पृश्यता से ग्रस्त वर्ग के अधिकारों की आवाज उठाई। अस्पृश्यता निवारण हेतु पं० मदनमोहन मालवीय जी की अध्यक्षता में 30 दिसम्बर 1931 ई० को एक विशाल जनसभा का आयोजन हुआ और 1932 ई० में सम्पूर्ण देश में अस्पृश्यता निवारण हेतु अखिल भारतीय सेवक संघ की स्थापना की गई। इस संघ ने अपने अथक प्रयासों से इन्हें अधिकार दिलाने और अस्पृश्यता को समाप्त करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस संघ के प्रयासों से अनेक शिशु मन्दिरों, छात्रावासों, धर्मशालाओं एवं पानी के लिए कुओं की

●●● वीथिका ●●●

स्थापना की गई, जिसके कारण दलितों में शिक्षा का प्रसार हुआ और इनकी आर्थिक स्थिति में भी सकारात्मक सुधार उत्पन्न हुए।

सरकारी आन्दोलन अथवा प्रयासों के अन्तर्गत अंग्रेजी शासनकाल से ही अस्पृश्यता के निवारण के सरकारी प्रयास प्रारम्भ हो गये थे, कांग्रेस सरकार ने भी अपने शासनकाल में दलितों की अवस्था को सुधारने के अनेक प्रयास शुरू किये तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलितों की स्थिति को सुधारने हेतु संविधान में अनेक प्रावधान लाये गये जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद 15(1) के अन्तर्गत राज्य किसी भी नागरिक के प्रति धर्म, जाति, लिंग, जन्म के स्थान आदि पर कोई भेदभाव नहीं करेगा, अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता को समाप्त कर उससे सम्बन्धित सभी प्रकार की नियोग्यताओं को लागू करना कानून के अनुसार दण्डनीय अपराध होगा, अनुच्छेद 25 में राज्य की हिन्दुओं की सार्वजनिक संस्थाओं को सभी वर्गों के लिये खोलने का अधिकार, अनुच्छेद 29 के अन्तर्गत राज्य निधि से सहायता प्राप्त करने वाली सभी शिक्षण संस्थाओं में किसी को भी अर्थात् वंश, धर्म, जाति एवं भाषा के आधार पर रोक नहीं जा सकता, अनुच्छेद 49 के अनुसार कोई भी राज्य दुर्बल वर्गों मुख्य रूप से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के आर्थिक एवं शिक्षा सम्बन्धी हितों की रक्षा करेगा तथा सामाजिक अन्याय एवं शोषणकारी कारकों से रक्षा प्रदान करेगा, अनुच्छेद 146 के अनुसार उड़ीसा, बिहार तथा मध्य प्रदेश के राज्यों में अनुसूचित जातियों एवं अस्पृश्यों के लिए एक मंत्री होगा जो इनके कल्याण की देख-रेख करेगा, अनुच्छेद 330 के अन्तर्गत लोकसभा में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सुरक्षित स्थान, अनुच्छेद 335 के अन्तर्गत सरकारी नौकरियों में आरक्षण तथा अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत राष्ट्रपति अनसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु एक अधिकारी की नियुक्ति करेगा जो राष्ट्रपति को समय-समय पर इनकी स्थिति तथा दशा से अवगत करायेगा।

अस्पृश्यता के निवारण हेतु सन् 1955 में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम लाया गया जिसे सारे देश में 1 जून 1955 से लागू किया गया।

अस्पृश्यता निवारण हेतु इसके प्रावधानों एवं दण्ड व्यवस्था को अधिक कठोर बनाने की दृष्टि से नागरिक अधिकार संरक्षण कानून 1976 तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 में पारित किया गया। इस प्रकार यदि देखा जाये तो ज्योतिबा फुले से लेकर डा० भीमराव अम्बेडकर द्वारा चलाये गये दलित आन्दोलनों ने दलितों के उत्थान एवं निवारण के सकारात्मक परिणाम प्रस्तुत किये हैं जिसके परिणामस्वरूप समकालीन समाज में दलितों की शिक्षा, निर्योग्यताओं, गरीबी तथा शोषण में सुधार दिखाई दे रहे हैं। यही इन आन्दोलनों का केन्द्रीय बिन्दु था कि समाज में दलितों की स्थिति अन्य वर्गों के समान दिखाई दे और वे भी भयमुक्त, शोषण मुक्त तथा अपनी निम्न स्थिति से उभरकर समाज के सामने एक समान नागरिक की भाँति खड़े हो सकें।

सन्दर्भ —

1. हसनैन, नदीम — समकालीन भारतीय समाज-भारत बुक सेन्टर लखनऊ-2004
2. महाजन, धर्मवीर एवं महाजन, कमलेश — भारतीय समाज के परिपेक्ष्य-विवेक प्रकाशन, दिल्ली-2015
3. महाजन, धर्मवीर एवं महाजन, कमलेश — समाजशास्त्र — विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2016
4. विक्टर प्रेम सागर, इंटरप्रेटेटिव डायरी ऑफ अ बिशप, विवेक प्रकाशन विवेक प्रकाशन, दिल्ली 2016
5. हट्टन, जे.एच. क्रास्ट इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड, युनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे।
6. महार, जे माइकल, द अनटचेबल्स इन कंटम्परेरी इंडिया, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम्य संघटन

डॉ० आयशा फातमी*

संक्षिप्तिका —

मानव की सामूहिक तथा संघीय गतिविधियों ने ही एक संगठन के रूप में ग्रामों का विकास किया है। भारत में भी अति प्राचीन काल से ही स्थानीय सहकारी संगठनों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। भारत की ज्ञात सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता सैन्धव सभ्यता में अन्नागारों, स्नानागारों तथा गोदी आदि पुरातात्विक साक्ष्यों की प्राप्ति से सैन्धव जीवन में संघीय तत्वों के प्रमाण मिलते हैं। वैदिक संस्कृति निश्चित रूप से ग्रामीण संस्कृति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राक्वैदिक आर्येत्तर भारतीयों से निरन्तर संघर्ष के कारण सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से वे समूहों में रहते थे और प्रारम्भ में भूमि पर उनके कबीलों का सामूहिक अधिकार था। परवर्ती वैदिक कालीन आर्थिक जीवन के पर्याप्त विकास के साथ-साथ वैश्यों में “गण” अथवा “संघ” की व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है जो ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की धार्मिक तथा राजनैतिक संघटक प्रवृत्तियों से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। संभवतः असुरक्षा और आपसी सहयोग की आवश्यकता आदि कारणों से कुछ लोग कार्य/व्यवसाय मिलकर करने लगे थे और दूर देशों की यात्राएँ प्रायः समूहों में करते थे। लम्बी दूरियों और असुरक्षित सड़कों को पार करने के लिये वे एक ‘निकाय’ के रूप में संगठित होकर कठिनाइयों का सामना कर सकते थे। वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त ग्राम, ग्रामणी, ग्रामभोजक सभा, गण, पूग आदि शब्दों से ग्रामों में संघटक प्रवृत्तियों के स्पष्ट संकेत मिलते हैं तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से इस तथ्य की पुष्टि भी हो जाती है। ग्रामों में शिल्पियों के अस्तित्व और संगठन के प्रमाण भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं जहाँ ‘श्रेष्ठि’ और ‘गण’ शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में श्रेणियों की संख्या 18 बताई गई है। प्राचीन भारतीय ग्रामों में संघीय तत्वों के दर्शन राजनीतिक क्षेत्र में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। राजा के चुनाव तथा कार्यप्रणाली में ग्रामीणों का महत्वपूर्ण योगदान था। वैदिक ग्राम्य जनों की प्रार्थनाओं और हार्दिक कामनाओं में भी संघीय तत्व परिलक्षित होते हैं। पूग’ और ‘गण शब्द संभवतः ग्रामों तथा नगरों के स्थानीय संगठनों के लिये प्रयुक्त किया जाता था।

* एसोसिएट प्रोफेसर — प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, नारी शिक्षा निकेतन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ

अतः स्पष्ट है कि कौटिल्य के पूर्व भी ग्रामों में संघटक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से क्रियाशील थीं तथा ग्रामवासियों के क्रियाकलाप सहकारिता की भावना पर आधारित थे। यद्यपि कौटिल्य का समय साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विकास का युग था तथा शक्ति के केन्द्रीकरण पर बल दिया जा रहा था। राज्य के समस्त कार्य शासन के स्पष्ट नियन्त्रण में थे तथापि स्थानीय संगठनों में संघटक तत्व भी पूर्णतया परिलक्षित होते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र यद्यपि मुख्यतः उत्तम शासन तथा आर्थिक व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करता है, तथापि इससे हमें तत्कालीन संघीय गतिविधियों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। प्रस्तुत शोध पत्र में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन भारत के ग्रामों में पायी जाने वाली संघीय गतिविधियों एवं संघटनात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है।

मुख्य बिन्दु— कौटिल्य, अर्थशास्त्र, ग्राम, संघटन, सहकारिता

मानव में सहकारिता की भावना एक सामाजिक वृत्ति है। आदिकाल से ही यह वृत्ति किसी न किसी रूप में मानव समाज में विद्यमान रही है। मनुष्य की प्रकृति और उसके वातावरण ने उसे सक्रिय होकर संगठन के रूप में कार्य करने को प्रेरित किया है। मानव की सामूहिक तथा संघीय गतिविधियों ने ही एक संगठन के रूप में ग्रामों का विकास किया है। भारत में भी अति प्राचीन काल से ही स्थानीय सहकारी संगठनों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि प्रस्तुत शोध पत्र में कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र में ग्रामीण संगठन एवं उनमें विद्यमान संघटनात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है, तथापि विषय को भलीभाँति समझने के लिए कौटिल्य के पूर्व भारत के ग्रामों में पायी जाने वाली संघीय गतिविधियों से भी परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे विषय का क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

एक सामाजिक संगठन के रूप में ग्रामों की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। भारत की ज्ञात सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता सैन्धव सभ्यता में नगरों के पुरातात्विक प्रमाणों के साथ-साथ भारी मात्रा में ग्रामीण सभ्यता के लक्षण भी मिलते हैं जो कृषि एवं व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न थे। अन्नागारों, स्नानागारों तथा गोदी आदि

●●● वीथिका ●●●

पुरातात्विक साक्ष्यों की प्राप्ति से सैन्धव जीवन में संघीय तत्वों के प्रमाण मिलते हैं।¹ वस्तुतः सैन्धव सभ्यता की विशाल जनसंख्या का भरण-पोषण बड़े पैमाने पर कृषि के बिना संभव नहीं था जिनका भण्डारण अन्नागारों में किया जाता रहा होगा। इस काल का व्यापारिक विकास भी अप्रत्यक्ष रूप से कृषि की उन्नत स्थिति का परिचायक है।²

वैदिक संस्कृति निश्चित रूप से ग्रामीण संस्कृति थी जो मुख्यतः कृषि और पशुपालन पर आधारित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राक्वैदिक आर्येत्तर भारतीयों से निरन्तर संघर्ष के कारण सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से वे समूहों में रहते थे और प्रारम्भ में भूमि पर उनके कबीलों का सामूहिक अधिकार था।³ गाँवों के चरागाहों, पोखरों, वनों एवं मार्गों पर सभी का अधिकार था।⁴ वैदिक ग्राम्य जनों की संघटक प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम आर्थिक क्षेत्र में दिखाई देती हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार— “ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — मानवीय समाज में इन चारों वर्गों के अनुरूप ब्रह्म ने देवताओं में भी ऐसे वर्गों का निर्माण किया, किन्तु प्रथम दो वर्गों के निर्माण से ब्रह्म संतुष्ट नहीं हुए। क्योंकि ये दोनों सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सकते थे, अतः वैश्यों की उत्पत्ति की गई जो गणशः कहलाए क्योंकि व्यक्तिगत प्रयास से नहीं अपितु सहकारिता के द्वारा ही वे सम्पत्ति का अर्जन करने में समर्थ हो सकत थे।⁵ इस प्रसंग से परवर्ती वैदिक कालीन आर्थिक जीवन के पर्याप्त विकास के साथ-साथ वैश्यों में “गण” अथवा “संघ” की व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है जो ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की धार्मिक तथा राजनैतिक संघटक प्रवृत्तियों से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। संभवतः असुरक्षा और आपसी सहयोग की आवश्यकता आदि कारणों से कुछ लोग कार्य/व्यवसाय मिलकर करने लगे थे और दूर देशों की यात्राएँ प्रायः समूहों में करते थे। लम्बी दूरियों और असुरक्षित सड़कों को पार करने के लिये वे एक ‘निकाय’ के रूप में संगठित होकर कठिनाइयों का सामना कर सकते थे। वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त ग्राम,⁶ ग्रामणी,⁷ ग्रामभोजक,⁸ सभा,⁹ गण,¹⁰ पूग¹¹ आदि शब्दों से ग्रामों में संघटक प्रवृत्तियों के स्पष्ट संकेत मिलते हैं तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से इस

तथ्य की पुष्टि भी हो जाती है।¹² सत्तिगुम्ब जातक¹³ में एक वयोवृद्ध नेता के अधीन पाँच सौ लुटेरों वाले गाँव की चर्चा है। इन लुटेरों के संगठन का प्रतिरोध व्यापारियों के एक ऐसे ही संगठन द्वारा किया गया।¹⁴ 'पणि' शब्द ऋग्वेद में बार-बार आया है।¹⁵ एक ऋचा में देवताओं के पणियों पर आक्रमण तथा उनके संहार का उल्लेख है।¹⁶ इस प्रकार जातकों में उल्लिखित इस प्रकार की संस्था की प्राचीनता ऋग्वेद तक ले जायी जा सकती है। ग्रामों में शिल्पियों के अस्तित्व और संगठन के प्रमाण भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं जहाँ 'श्रेष्ठि'¹⁷ और 'गण'¹⁸ शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समाज में संघटक प्रवृत्ति संभवतः प्रारंभिक वैदिक काल से तथा निश्चित रूप से परवर्ती वैदिक काल से विद्यमान रही है। बौद्ध साहित्य में श्रेणियों की संख्या 18 बताई गई है।¹⁹ नगर की सड़कों, खास वीथियों तथा समूचे गाँव में एक ही वर्ग के शिल्पियों को बसाने के साक्ष्य मिलते हैं।²⁰

प्राचीन भारतीय ग्रामों में संघीय तत्वों के दर्शन राजनीतिक क्षेत्र में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। राजा के चुनाव²¹ तथा कार्यप्रणाली में ग्रामीणों का महत्वपूर्ण योगदान था।²² पंचकरु जातक तथा तेलपत्त जातक के अनुसार, बोधिसत्व को प्रजा ने राजा चुना था।²³ महावग्ग²⁴ से ज्ञात होता है कि बिम्बिसार के राज्य में 80,000 ग्राम थे तथा उसने 80,000 ग्रामिकों की एक 'सभा' का आयोजन किया था। राज्य के प्रत्येक ग्राम में एक-एक प्रतिनिधि से बनी यह सभा प्राचीनतम संस्था का अवशेष प्रतीत होती है। अयोध्याकाण्ड²⁵ से ज्ञात होता है कि राजा दशरथ ने राम को युवराज अभिषिक्त करने हेतु अपने राज्य के नगरों तथा ग्रामों के प्रमुख व्यक्तियों को एक सभा में आमंत्रित किया²⁶ और उनके निर्णय को स्वीकार किया।²⁷ वैदिक ग्राम्य जनो की प्रार्थनाओं और हार्दिक कामनाओं में भी संघीय तत्व परिलक्षित होते हैं। अथर्ववेद में कहा गया है – "पृथ्वी पर जो गाँव, अरण्य और सभाएं हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं, उसमें हम चारु भाषण करें।²⁸ ऋग्वेद के अनुसार – "एकत्र हो, मिलकर भाषण करो, तुम्हारे विचार समान हो....., तुम्हारा व्रत समान हो और तुम्हारा चित्त समान हो। सबके विचार समान हो जिससे सब

●●● वीथिका ●●●

प्रसन्नतापूर्वक सहमत हो सकें।²⁹ सभा के विषय में वाजसनेयी संहिता में दो बार पश्चाताप संबंधी विलक्षण नियम³⁰ सभा के कार्य में मनोरंजक प्रकाश डालते हैं – “हम ग्राम, वन तथा सभा में किये गये अपने प्रत्येक पापकर्म का प्रायश्चित्त यज्ञ द्वारा करते हैं”।

एक प्रमुख के तत्वाधान में राजनीतिक इकाई के रूप में ग्राम के संगठन का उल्लेख जातक कथाओं में मिलता है। खरस्सर जातक से ज्ञात होता है कि कर एकत्र करना तथा स्थानीय पुरुषों की सहायता से लुटेरों के अत्याचारों से ग्राम की रक्षा करना ‘ग्रामभोजक’ का कर्तव्य था।³¹ उभतोभट्ट जातक में ग्रामभोजकों की न्यायिक शक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है।³² यद्यपि ग्रामणी के हाथ में पर्याप्त कार्यकारिणी तथा न्यायिक शक्तियाँ थीं तथापि ‘जनमत’ उनके निर्णयों पर एक महान तथा सक्षम नियन्त्रक का काम करता था। पानीय जातक से ज्ञात होता है कि काशीराज्य के दो ग्रामभोजकों ने क्रमशः पशुवध और तीक्ष्ण मद्य के विक्रय पर प्रतिबंध लगाया किन्तु जनता के प्रतिवाद के कारण इन दोनों आदेशों को रद्द करना पड़ा।³³ गृहपति जातक के अनुसार एक दुर्भिक्ष के समय ग्रामीणों ने एकत्र होकर अपने मुखिया से सहायता माँगी।³⁴ ‘पूग’³⁵ और ‘गण’³⁶ शब्द संभवतः ग्रामों तथा नगरों के स्थानीय संगठनों के लिये प्रयुक्त किया जाता था।

अतः स्पष्ट है कि कौटिल्य के पूर्व भी ग्रामों में संघटक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से क्रियाशील थीं तथा ग्रामवासियों के क्रियाकलाप सहकारिता की भावना पर आधारित थे। यद्यपि कौटिल्य का समय साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विकास का युग था तथा शक्ति के केन्द्रीकरण पर बल दिया जा रहा था। राज्य के समस्त कार्य शासन के स्पष्ट नियन्त्रण में थे तथापि स्थानीय संगठनों में संघटक तत्व भी पूर्णतया परिलक्षित होते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र यद्यपि मुख्यतः उत्तम शासन तथा आर्थिक व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत करता है, तथापि इससे हमें तत्कालीन संघीय गतिविधियों का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

कौटिल्य ने उत्तम शासन व्यवस्था का वर्णन करते हुए ग्राम्य संगठन

पर प्रकाश डाला है जिसमें ग्राम को सामूहिक राजनीतिक इकाई माना गया है। ये प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। कई ग्रामों के संघटन से विभिन्न नई बस्तियों का निर्माण किया गया था³⁷ जो इस प्रकार हैं –

शासन की न्यूनतम इकाई	– ग्राम
संग्रहण	– 10 ग्राम
खार्वाटिक	– 200 ग्राम
द्रोणमुख	– 400 ग्राम
स्थानीय	– 800 ग्राम

उपर्युक्त तालिका के आधार पर स्पष्ट है कि साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी, जिसके ऊपर 10 ग्रामों की 'संग्रहण' नामक बस्ती, 200 ग्रामों के बीच में 'खार्वाटिक, 400 ग्रामों में द्रोणमुख तथा 800 ग्रामों के मध्य 'स्थानीय' नामक बस्तियों की व्यवस्था थी। संभवतः बढ़ती हुई जनसंख्या ने नई बस्तियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी।

कौटिल्य ने नवीन गाँवों को बसाते समय कुछ विशेष बातों का ध्यान रखने की सलाह दी। यद्यपि शासन के प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्र का नियन्त्रण था तथापि स्थानीय स्तर पर सहकारी संगठनों को राज्य की ओर से अधिकार प्रदान किये गये थे। केन्द्रीय स्तर पर शक्ति का विकेन्द्रीकरण साम्राज्यवाद के युग में संभव नहीं था किन्तु सामान्य जनजीवन/जनता को संघटित रूप से कार्य करने का संदेश अर्थशास्त्र में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ – "प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले ऐसे गाँव बसाए जाएं जिसमें प्रायः शूद्र और किसान अधिक हों। एक गाँव दूसरे गाँव से कोष भर या दो कोष की दूरी से अधिक नहीं होना चाहिए यतः अवसर आने पर वे एक दूसरे की सहायता कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, बेर के वृक्ष, खाई, तालाब, सेमल के वृक्ष, समी के वृक्ष और बरगद आदि के वृक्ष लगाकर उन बसाये हुए गाँवों की सीमा निर्धारित करें।"³⁸ कौटिल्य ने गाँवों में शूद्रों और किसानों की संख्या सबसे अधिक रखने का निर्देश दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजकीय आय में वृद्धि हेतु कृषि

●●● वीथिका ●●●

संबंधी कार्य करने के लिए अधिक से अधिक लोगों की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति किसानों तथा शूद्रों से हो सकती थी। उसके अनुसार निम्न वर्ग के लोग ही अधिकांशतः कृषि और इससे संबंधित कार्य / व्यवसाय करते हैं; इसलिए जिस देश में / प्रदेश में उच्च वर्णों की अपेक्षा निम्न जाति के लोग अधिक संख्या में होते हैं वहाँ की अर्थव्यवस्था बेहतर होती है।³⁹ दो गाँवों के मध्य अधिक दूरी न होने से आवश्यकता पड़ने पर वे शीघ्रातिशीघ्र एक दूसरे की सहायता कर सकते थे। समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर ही कर लेने से गाँवों में शांति और व्यवस्था बनाए रखने में सहायता अवश्य मिलती रही होगी। गाँवों के मध्य सीमा निर्धारण की व्यवस्था से विवादों में निश्चित रूप से कमी आई होगी।

प्रत्येक गाँव का सामूहिक क्षेत्रफल, उसकी भौगोलिक स्थिति वह करमुक्त है, दान में दिया गया है अथवा कर देता है, प्रतिवर्ष होने वाली पशु तथा अनाज की पैदावार और उससे राज्य को मिलने वाले अंश आदि के विवरण को पुस्तकस्थ करने का निर्देश अर्थशास्त्र में दिया गया है। इन गाँवों को 5-5 अथवा 10-10 के संगठन में बांधकर 'गोप' नामक अधिकारी की नियुक्ति का सुझाव दिया जो राज्य की ओर से यहाँ के प्रशासन का कार्य देखे।⁴⁰ प्रत्येक गाँव एक प्रमुख के तत्वाधान में एक प्रशासनिक इकाई के रूप में कार्य करता था। गाँव का मुखिया (ग्रामणी) गाँव के प्रति उत्तरदायी होता था और ग्रामीणों के सहयोग से अपने कार्यों का निर्वहन करता था।⁴¹ ग्रामणी अपराधियों को दण्ड दे सकता था और वह उन्हें ग्राम से बहिष्कृत कर देने तक का अधिकार रखता था, किन्तु वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं कर सकता था।⁴² राजा को अन्तिम निरीक्षण तथा निर्णय का अधिकार था।⁴³ गाँव में एक सार्वजनिक कोश था जिसमें कृषकों एवं ग्रामीणों से वसूले गये अर्थदण्ड से निरन्तर वृद्धि होती थी और उसे गाँव के विकास में लगाया जाता था।⁴⁴

कौटिल्य ने गाँवों में अनुशासन और सुव्यवस्था बनाये रखने हेतु जो नियम निर्धारित किये, वे एक सक्रिय सामूहिक संगठन की ओर संकेत करते

हैं। 'धर्मस्थीय' नामक तृतीय अधिकरण के 10वें अध्याय में इस संबंध में विस्तृत विवरण मिलता है।⁴⁵

- दूसरे की भूमि पर सीमा, पुण्यस्थान, चैत्य और देवालय बनवाने वाले अथवा पहले से धमार्थ बने हुए स्थान को गिरवी रखने वाले, बेचने अथवा बिकवाने वाले को 'मध्यम साहस' दण्ड दिया जाए और जो लोग इन कार्यों में सहायक या साक्षी बने उन्हें 'उत्तम साहस' दण्ड दिया जाये।
- मकान मालिक के न होने पर ग्रामवासी तथा अन्य धार्मिक लोग उस टूटे-फूटे धमार्थ मकान की मरम्मत कर सकते हैं।
- गांव में रहने वाला किसान यदि बीज बोने के समय बीज न बोये या खेत ही छोड़ दे तो उसे 12 पण दण्ड दिया जाये।
- जो व्यक्ति लगान देने वाले गांव के निवास को छोड़कर लगान न देने वाले गांव में बस जाने की इच्छा से प्रवेश करे उसे 'प्रथम साहस' दण्ड दिया जाये।
- एक गाँव का मुखिया चोर या व्यभिचारी के अतिरिक्त किसी दूसरे को गाँव से निकाले तो उस पर चौबीस पण दण्ड निर्धारित किया जाये। यदि सारा गाँव मिलकर निरपराधी व्यक्ति को गाँव से निकाले तो सारे गांव पर 'उत्तम साहस' दण्ड हो।
- यदि गाँव के बाहर गया हुआ व्यक्ति पुनः गाँव में बसना चाहे और मुखिया तथा गाँव वाले उसे बसने न दें तो मुखिया पर चौबीस पण और गाँव वालों पर 'उत्तम साहस' दण्ड हो।
- जब गाँव का मुखिया गाँव के किसी कार्य से बाहर जाए तो अपनी पारी के अनुसार गाँव वाले उसके साथ रहें। जो अपनी पारी में न जाए उन पर भोजन के हिसाब से डेढ़ पण जुर्माना किया जाए।

अर्थशास्त्र में गाँवों के सामुदायिक और सहकारी कार्यों में भाग लेना आवश्यक माना गया है। कौटिल्य ने सामूहिक कार्यों में सम्मिलित न होने वाले ग्रामवासियों के लिए विभिन्न प्रकार के

●●● वीथिका ●●●

मुआवजे⁴⁶ निर्धारित किये हैं—

- यदि कोई किसान गाँव में आकर पंचायती या खेती आदि कार्य नहीं करता है तो सम्पूर्ण गाँव उससे यथोचित जुर्माना वसूल करे। यदि कोई व्यक्ति कार्य न करे तो कार्य के वेतन से दोगुना, पंचायती कार्यो में चंदा न देने पर चंदे का दोगुना और सामूहिक खान-पान के अवसर पर सम्मिलित न होने पर उसका दोगुना दण्ड उससे वसूला जाए।
- यदि कोई ग्रामवासी गाँव के सार्वजनिक मनोरंजन के कार्यो में अपने हिस्से का अंश न दे तो सपरिवार उसको उत्सव में प्रवेश न करने दिया जाए। यदि वे छिपकर तमाशा देखें या सुने और गाँव के सार्वजनिक हितकारी कार्यो में भाग न ले तो उससे दोगुना हिस्सा वसूल किया जाए।
- जो व्यक्ति सार्वजनिक कल्याण का सुझाव दे उसकी बात को सभी ग्रामवासी मानें। उसका तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर 12 पण दण्ड निर्धारित किया जाए। यदि गाँव के लोग मिलकर उस व्यक्ति को मारे-पीटे तो प्रत्येक ग्रामीण पर अपराध से दोगुना दण्ड निर्धारित किया जाए। जो लोग घातक प्रहार करें उन पर विशेष दण्ड रखा जाए।
- उन मारने वालों में यदि ब्राह्मण या उससे भी प्रतिष्ठित व्यक्ति हो तो उसे सबसे अधिक दण्डित किया जाए। यदि किसी सार्वजनिक कार्य में ब्राह्मण सम्मिलित न हो सके तो गाँव के लोग ही उस अभाव को पूरा कर दें; किन्तु अनुपस्थित रहने का जो मुआवजा ब्राह्मण की ओर निकले उसे गाँव वाले अवश्य वसूल करें।

अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण के अध्याय 9 में मकान, गाँव तथा खेतों की सीमाओं के सम्बन्ध में होने वाले विवादों तथा उनके निपटारों का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है⁴⁷ जो ग्रामवासियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की ओर संकेत करता है —

मकान अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में —

- यदि मकान बेचना हो, तो मकान मालिक को चाहिए कि क्रमशः वह अपने कुटुम्बी, गाँव के मुखिया और धनाढ्य से पूछ ले। यदि वे खरीदने से इंकार करें तब बाहर वालों से बातचीत की जाए।
- दूसरे गाँवों के मुखिया तथा उनके चालीस कुल तक के पुरुषों को मकान के सामने ही उसकी कीमत बताई जाए। गाँवों के मुखिया तथा अन्य वृद्ध पुरुषों के सामने खेत, वन, सीमाबंध, तालाब और हौज आदि की मर्यादा के अनुसार कीमत निर्धारित की जाए।
- मकान मालिक की अनुपस्थिति में उसके मकान को नीलाम करने वाले पर चौबीस पण दण्ड किया जाए।

गाँवों की सीमा निर्धारण के विषय में —

- गाँव के किसान, ग्वाले, वृद्ध तथा बाहर के अन्य अनुभवी एक या अनेक पुरुष जो सीमा बंदी से परिचित न हो, अपना वेश बदलकर सीमा चिन्हों का पता लगाएं और तब सीमाएं निर्धारित करें। निर्णय किये हुए या बताए गये सीमा चिन्हों की अनदेखी करने पर अपराधी पर 1000 पण दण्ड किया जाए। जो सीमा की भूमि का अपहरण करे या उनके चिन्हों को काटे उसे भी यही दण्ड दिया जाए।
- जहाँ पर सीमा के चिन्ह सर्वथा मिट गये हों और निर्णय के लिये कोई आधार न दिखता हो तो राजा स्वयं इस प्रकार का सीमा विभाग करे कि किसी भी ग्रामवासी को कोई हानि न उठानी पड़े।

खेतों की सीमाओं से संबंधित —

- खेतों के झगड़े का निपटारा गाँव के मुखिया तथा वृद्ध पुरुष करें। उनके आपस में विवाद हो जाने पर धार्मिक पुरुष उसका निर्णय लें जिनको प्रजा स्वीकार करती हो, या किसी दूसरे व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर निर्णय लिया जाए। यदि इन दोनों अवस्थाओं में भी कोई निर्णय न हो सके तो राजा स्वयं वह भूमि अपने अधिकार में ले ले और उस सम्पत्ति को भी ले ले जिसका कोई उत्तराधिकारी न हो

●●● वीथिका ●●●

अथवा जनता के लाभ की दृष्टि से उसका यथोचित विभाग कर दे ।

- सब तरह के विवादों का निर्णय मुखिया लोगों को करना चाहिए । चरागाह, खेती योग्य भूमि, खलिहान, मकान और घुड़साल आदि के संबंध में विवाद होने पर क्रमशः पहले को प्रधानता देते हुए निर्णय किया जाए ।
- जलाशय, क्यारी तथा नाली बनाते समय यदि किसी के बीज बोये खेत का नुकसान हो जाए तो हानि के अनुसार उसका मूल्य चुकाना चाहिए ।

उपर्युक्त निर्देश ग्रामवासियों के सामूहिक चरित्र को दर्शाते हैं जहाँ प्रत्येक निर्णय के पीछे ग्रामवासियों का हित निहित है । राज्य की ओर से भी इनकी संघटक प्रवृत्तियों को समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहता था । कौटिल्य ने राजा को निर्देशित किया है कि “जो लोग मिलकर जनता के आराम के लिये रास्तो पर मकान बनाते हैं और अपने गाँव की शोभा बढ़ाने एवं उसकी रक्षा करने के लिए यत्नशील रहते हैं, उनके सहयोग और कल्याण की ओर राजा का ध्यान रहना चाहिए ।”⁴⁸

अर्थशास्त्र में गाँवों की अर्थव्यवस्था का प्रधान स्रोत ‘कृषि’ और ‘पशुपालन’ को बताया गया है । कौटिल्य के अनुसार वही देश/राज्य अच्छा है, जहाँ पर्याप्त कृषि भूमि, खाने, वन तथा पानी के स्रोत हों क्योंकि ये राज्य की शक्तियाँ हैं ।⁴⁹ उसने राजा को निर्देश दिया कि वह अन्न, बीज, बैल और धनादि देकर किसानों की सहायता करे । अपने श्रम से बंजर भूमि को खेती योग्य बनाने वाले किसान से भूमि कभी न लें । जो किसान भूमि परती डाले रखे, उससे जमीन छीनकर किसी जरूरतमंद को दे दे । ऐसे जरूरतमंद किसान के न मिलने पर गाँव का मुखिया या व्यापारी उस जमीन पर खेती करे ।⁵⁰ अर्थशास्त्र में इस बात पर बल दिया गया है कि ग्रामों में कोई नाट्यगृह एवं क्रीड़ास्थल आदि मनोरंजन के साधन नहीं होने चाहिए और न ही नर्तकों, गायकों, वादकों तथा भांडों को अपनी कला दिखाकर कृषि कार्यों में बाधा

डालनी चाहिए क्योंकि जब कृषक अबाध रूप से अपना कार्य करेंगे तो राजकोष में वृद्धि होगी और सारा देश धनधान्यपूर्ण होगा।⁵¹ उसने व्यवस्था की कि 'समाहर्ता' की आज्ञा से राजा के गुप्तचर गांवों में जाकर खेती के आकार एवं उनकी उपज के विषय में जानकारी प्राप्त कर उसे बताएं।⁵² गाँवों की कृषि योग्य भूमि की सिंचाई व्यवस्था भी सहकारी प्रवृत्तियों पर आधृत थी। राज्य की ओर से भी किसानों को पर्याप्त सहायता प्रदान करने का प्रावधान किया गया था। कौटिल्य के अनुसार अन्न आदि की उत्पत्ति के प्रमुख कारण बाँध हैं क्योंकि जो अन्न केवल वृष्टि होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं, उन्हें जलाशयों और बाँधों के माध्यम से सदैव प्राप्त किया जा सकता है।⁵³ यदि प्रजाजन मिलकर सिंचाई के साधनों का निर्माण करें तो राजा को चाहिए कि उन्हें जलाशय के लिए भूमि, नहर के लिए रास्ता और आवश्यक साधन उपलब्ध कराये। गाँव के वे लोग जो सहकारिता के आधार पर किये जाने वाले बांध आदि के निर्माण कार्य में व्यक्तिगत रूप से भागीदार न हो सके, तो वे अपने स्थान पर नौकर तथा बैल भेज कर सहयोग कर दें।⁵⁴ स्पष्ट है कि इस प्रकार के सहकारी कार्यों में अपना सहयोग करना आवश्यक था। ऐसा न करने पर अनुपात के अनुसार उनके हिस्से का सारा खर्च लेने का प्रावधान था और कार्य समाप्ति पर न तो उन्हें उसका साझीदार समझा जाता था और न उसका लाभ उठाने दिया जाता था।⁵⁵ अर्थशास्त्र में नये तालाब और सीमाबन्ध बनवाने वाले और मरम्मत करवाने वाले व्यक्ति पर राज्य की ओर से राहत की भी व्यवस्था थी ताकि लोग उत्साहित होकर इस प्रकार के कार्य में अपना सहयोग करें। नए तड़ाग और सीमाबांध बनवाने पर 5 वर्ष तक सरकारी कर से मुक्ति तथा जीर्णोद्धार करने पर 3 वर्ष तक की सरकारी कर से मुक्ति की व्यवस्था थी।⁵⁶ कौटिल्य ने यह भी कहा कि जिन तालाबों में नदी का पानी न आता हो और कृषक रहट आदि लगाकर अपने खेतों में पानी पहुंचाता हो उनकी उपज पर राज्य को उनके सामर्थ्य के अनुसार ही कर लगाना चाहिए।⁵⁷ जिन किसानों के पास तालाब न हो, वे कुछ निश्चित रकम, उपज का कुछ अंश देकर अथवा उसके मालिक की आज्ञा से दूसरे तालाबों से पानी

●●● वीथिका ●●●

ले सकते थे परन्तु उनके लिये आवश्यक था कि वे उस तालाब, रहट आदि की बराबर मरम्मत करवाते रहें। ऐसा न करने की दशा में नुकसान का दोगुना दण्ड उसे भुगतना पड़ता था।⁵⁸ खेती के लिये पानी के उचित रास्तों को रोकना और अनुचित रास्तों से जल को ले जाना प्रथम 'प्रथम साहस' दण्ड घोषित किया गया।⁵⁹

यद्यपि मौर्यकाल में राजा का भूस्वामित्व अधिक मुखर हो गया था, किन्तु अर्थशास्त्र के कुछ संदर्भ निःसंदेह सामूहिक/सामुदायिक भूस्वामित्व का उल्लेख करते हैं जिन पर गाँव की समस्त जनता का अधिकार होता था। उदाहरणार्थ कौटिल्य ने गाँव के चारों ओर 800 अंगुल की दूरी पर स्थित भूमि पर ग्रामवासियों का सामूहिक अधिकार स्वीकार किया है।⁶⁰ खेती के लिये गाँव के लोगों को मिलकर एक 'कर्षक' नियुक्त करने की सलाह दी और सभी को उसे मजदूरी और भोजनादि देने का निर्देश दिया।⁶¹ यह निर्देश सामूहिकता/सहकारिता का संकेत देते हैं।

कौटिल्य ने ग्राम्य अर्थव्यवस्था में कृषि के साथ-साथ पशुपालन को भी विशेष महत्व प्रदान किया है क्योंकि कृषि संबंधी कार्य/व्यवसाय पशुपालन पर ही निर्भर होते हैं। अतः गायों और ग्वालों के बाहुल्य वाले क्षेत्र को उसने श्रेष्ठ माना है।⁶² और उस गाँव/क्षेत्र को आवास के लिये उपयुक्त बताया है। अर्थशास्त्र का यह कथन कि परिवार के पशुधन बँटवारे में ब्राह्मण पुत्र को बकरियाँ, क्षत्रिय को अश्व, वैश्य को गाय तथा शूद्र को भेड़ें दी जाएँ⁶³ यह दर्शाता है कि पशुपालन के व्यवसाय में सभी वर्णों के लोग लगे थे, यद्यपि शूद्रों की संख्या अधिक रही होगी। पशुओं की उचित देखभाल हेतु यद्यपि राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त थे और उन पर राज्य की ओर से कर निर्धारित था⁶⁴ तथापि 'ग्रामदेवता' के नाम पर छोड़े गये सांड/10 दिन की ब्याई गाय और गायों के साथ रहने वाले बछड़ों पर कोई कर नहीं लगाया जाता था।⁶⁵ कौटिल्य के अनुसार गाँव से 400 हाथ (600 फुट) की दूरी पर पशुओं के विश्रामादि के लिये स्तम्भों से घिरा बाड़ा बनाना चाहिए।⁶⁶ उसने चरागाह जलाने वाले व्यक्ति को उसी आग में जला देने का प्रावधान किया।⁶⁷

यदि किसी की खड़ी खेती को किसी का जानवर चर जाए तो अन्न के नुकसान का दोगुना दाम खेत के मालिक को दिये जाने का निर्देश अर्थशास्त्र में मिलते हैं।⁶⁸

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कौटिलीय गाँव के प्रत्येक क्षेत्र (यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक) में संघटक प्रवृत्तियों के दर्शन स्पष्ट होते हैं जिनके चिन्ह आज की भारतीय गाँवों में देखे जा सकते हैं। वर्तमान समय में भी भारतीय गाँवों में संघटक भावना विद्यमान है। पंचायत के निर्णयों की मान्यता, ग्रामवृद्धों का सम्मान, सामूहिक क्रिया-कलापों की परम्परा के साथ-साथ शिक्षा के प्रचार-प्रसार के सामूहिक प्रयास, सरकारी योजनाओं/परियोजनाओं के वृहत स्तर पर क्रियान्वयन, स्वयंसेवी संगठनों के सकारात्मक कार्यों, लघु उद्योगों के विकास, नवीन तकनीकी के प्रयोग आदि ने ग्रामीण स्तर पर संघटित जीवन को और अधिक प्रभावित किया है। यद्यपि तथाकथित आधुनिक संस्कृति ने मानव संबंधों की आत्मीयता पर प्रहार किया है तथापि सहकारिता की मूल भावना पूर्णतया: नष्ट नहीं हुई है। मनुष्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं में समस्त संसार को ही एक 'संघ' के रूप में संगठित कर दिया है। भूमण्डलीकरण का प्रभाव गाँवों में भी दिखाई दे रहा है। इस प्रक्रिया ने समस्त विश्व को ही 'वैश्विक ग्राम' में परिवर्तित कर दिया है जिसका मूल आधार परस्पर सहयोग और सहकारिता है।

संदर्भ —

1. मिश्र, श्याम मनोहर, प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, 1997, पृ. 1-2
2. मिश्र, श्याम मनोहर, प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, 1997, पृष्ठ 74
3. काणे, पी0वी0, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम 2, भाग 2, पृष्ठ 865
4. मिश्र श्याम मनोहर, प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, 1997, पृष्ठ 88
5. मिश्र श्याम मनोहर, प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, 1997, पृ. 1,4,12
6. मजूमदार, आर० सी०, ए कारपोरेट लाइफ इन एन्शिएन्ट इण्डिया, 1969, पृष्ठ 124

●●● वीथिका ●●●

7. ऋग्वेद 10, 62, 11; 10, 7, 5
8. जातक, जिल्द पृष्ठ 354, जिल्द 4, पृष्ठ 14
9. अथर्ववेद 8, 10, 5
10. विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य टीका, ii. 187 (ग्रामादिजनसमूह)
11. मजूमदार, आर० सी०ए कारपोरेट लाइफ़ इन एन्शिएन्ट इण्डिया, 1969, पृष्ठ 124
12. भीटा से प्राप्त मुद्रा पर अंकित "सहिजितिये निगमस", मथुरा जैन अभिलेख (ल्यूडर्स लिस्ट सं० 48 एवं 69, आदि)
13. जातक, जिल्द 4, पृष्ठ 430
14. जरूदपन जातक, जातक जिल्द 2, पृष्ठ 294
15. वैदिक इन्डेक्स, पृष्ठ 471
16. वही
17. ऐतरेय ब्राह्मण 3, 30, 3; कौषीतकी 28, 6; वैदिक इन्डेक्स पृष्ठ 403 यादि
18. वाजसनेयी संहिता 16, 25; तैत्तरीय संहिता, 18, 10, 2 आदि
19. जातक 6, पृष्ठ 427
20. दन्तकार वीथी जातक, 1 पृष्ठ 320, 2, पृष्ठ 197; रजक वीथी जातक, 4 पृष्ठ 81; महावड्ढकिगामो जातक, 2 पृष्ठ 18; कम्मरगामो जातक, 3 पृष्ठ 281
21. अथर्ववेद, 4, 22
22. शतपथ ब्राह्मण 13, 2, 218
23. जातक जिल्द 1 क्रमशः पृष्ठ 470, 395
24. 5, 1
25. अध्याय 1, 2
26. 2, 4, 46
27. 3, 1
28. अथर्ववेद, 15, 9
29. ऋग्वेद 10 191

30. 3, 45; 20, 17
31. जातक जिल्द 1, पृष्ठ 354
32. वही, पृष्ठ 482
33. जातक, जिल्द 4, पृष्ठ 14
34. जातक, जिल्द 2, पृष्ठ 134
35. विनय पिटक (चुल्लवग 5, 52; 8, 4, 1)
36. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य की टीका, 2, 187
37. अर्थशास्त्र , अध्याय 1, अधिकरण 2, प्रकरण, 17
38. वही
39. वही, अध्याय 11, अधिकरण 7, प्रकरण 116
40. आचार्य दीपांकर, कौटिल्य कालीन भारत, प्रयाग, 1968, पृष्ठ 114-115
41. अर्थशास्त्र, अध्याय 1, अधिकरण 2, प्रकरण 17
42. प्राचीन भारत में संघटित जीवन, अनु0 के0डी0 बाजपेयी, सागर, 1966, पृष्ठ 133-134
43. वही
44. वही
45. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्रम, वाराणसी 1962, पृष्ठ 359-363
46. वही, पृष्ठ 363-64
47. वही, पृष्ठ 354-57
48. वही, पृष्ठ 365
49. अर्थशास्त्र, अधिकरण 6 प्रकरण 96, अध्याय 1
50. वही, अधिकरण 2 प्रकरण 17, अध्याय 1
51. वही, वही,
52. वही, अधिकरण 2 प्रकरण 53-54, अध्याय 35
53. वही, अधिकरण 7 प्रकरण 118, अध्याय 14
54. वही, अधिकरण 2 प्रकरण 17, अध्याय 1

●●● वीथिका ●●●

55. वही, वही,
56. वही, अधिकरण 3 प्रकरण 65, अध्याय 9
57. वही, वही,
58. वही, वही,
59. वही, अधिकरण 3 प्रकरण 66, अध्याय 10
60. प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, पृष्ठ 89
61. वही,
62. अर्थशास्त्र, अधिकरण 7 प्रकरण 116, अध्याय 11
63. वही, अधिकरण 3 प्रकरण 62, अध्याय 6
64. वही, अधिकरण 2 प्रकरण 45, अध्याय 29
65. वही, अधिकरण 4 प्रकरण 66, अध्याय 10
66. वही, वही,
67. वही, अधिकरण 4 प्रकरण 86, अध्याय 11
68. वही, अधिकरण 3 प्रकरण 66, अध्याय 10

‘आधा गाँव’ उपन्यास में चित्रित आर्थिक जीवन

सच्चिदानन्द*

किसी भी राष्ट्र की सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की आधारशिला वहाँ की आर्थिक व्यवस्था होती है। सामाजिक कल्याण व आर्थिक विकास प्रत्येक राष्ट्र का अभीष्ट होता है। देश की अर्थनीतियाँ शासन-सत्ता द्वारा निर्धारित की जाती हैं। सुसंगठित राजनीति सशक्त अर्थनीति का मार्ग प्रशस्त करती है।

राही मासूम रज़ा सदैव अपने साहित्य के माध्यम से राष्ट्र की राजनीति एवं अर्थनीति पर चिन्तन करते रहे। आजीवन आर्थिक विषम परिस्थितियों का सामना करने वालों को देखकर लेखक का भावुक हृदय द्रवित हो उठता था, इसलिए लेखक ने देश की आर्थिक व्यवस्था पर अपनी लेखनी के माध्यम से निरंतर चोट की है। उपन्यास साहित्य के माध्यम से लेखक ने आधुनिक अर्थनीति की खामियों को भी उजागर किया है।

भारत एक विकासशील देश है जहाँ निर्धनता है। यद्यपि यहाँ देश को उन्नत बनाने वाले सभी साधन उपलब्ध हैं, फिर भी यहाँ गरीबी है। इसका कारण केवल इतना है कि यहाँ उपलब्ध आर्थिक स्रोतों का सम्यक् उपयोग नहीं हो पा रहा है। सादा जीवन उच्च विचार को प्राथमिकता देने के कारण आर्थिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका है। देश की आर्थिक स्थिति, वहाँ की प्रचलित व्यवस्था पर सर्वाधिक निर्भर करती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है यहाँ की भूमि उपजाऊ है और निवासी भी परिश्रमी हैं, फिर भी उत्पादन की दर बहुत कम है। इसका कारण किसानों की निरक्षरता और अज्ञानता नहीं है, अपितु वे कठिन परिस्थितियाँ हैं जिनमें उन्हें अपना कृषि कर्म करना पड़ता है। ये परिस्थितियाँ एक सीमा तक दैविक आपदा जैसे—सूखा, ओला, पानी, अग्नि के रूप में हैं। इसके अतिरिक्त खाद, सिंचाई, कटाई, आदि कृषकों के लिए कठिन परिस्थितियों का निर्माण करते हैं।

* 128, छोटा चाँदगंज, निरालानगर, लखनऊ।

●●● वीथिका ●●●

उत्पादन लागत में वृद्धि, वित्त सम्बन्धी असुविधाएँ, विक्रय की अव्यवस्था तथा मूल्यों के उतार-चढ़ाव से उत्पादन में अपेक्षित लाभ नहीं हो पाता है। भण्डारण के अभाव में किसान अपनी फसल को कम दाम पर बेचने को मजबूर हो जाते हैं।

आधा गाँव राही मासूम रज़ा का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है। 344 पृष्ठों के इस उपन्यास में लेखक ने गंगौली के माध्यम से पूरे देश का चित्र खींचा है। उपन्यास स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात् के भारतीय समाज के सांस्कृतिक सन्दर्भ को प्रस्तुत करता है। गंगौली के आस-पास की सांस्कृतिक गतिविधियों का सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण करने के कारण इसे आंचलिक उपन्यास का श्रेय भी प्राप्त है। इस उपन्यास में गंगौली के शिया मुसलमानों की कहानी कही गयी है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों समुदायों की आर्थिक जीवन इस उपन्यास में चित्रित है।

राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' उपन्यास 'वर्ग-संघर्ष' की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसमें अधिकतर जमींदारी प्रथा का ही चित्रण हुआ है। स्वतंत्रता के बाद जब जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गयी तब इन छोटे जमींदारों की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो गयी। लेखक कहता है—

“इन लोगों के लिए पाकिस्तान बनना या न बनना बेमानी था। लेकिन जमींदारी के खात्मों ने इनकी शख्सियतों की बुनियादें हिला दीं। वे घरों से निकले और जब घर ही छूट गया तो गाजीपुर और कराँची में क्या फर्क।”¹

'आधा गाँव' के अनेक पात्र जैसे हकीम साहब, अब्बू मियाँ, फुस्सू मियाँ और मौलवी बेदार आदि ऐसे हैं जिन्होंने जमींदारी समाप्त होने पर अपनी आर्थिक जर्जरता को पाकिस्तान से जोड़ दिया है। आर्थिक सुरक्षा की खोज करते हुए हिन्दुस्तानी मुसलमान पाकिस्तान रवाना हो जाते हैं।

सद्दन से बात करते हुए हकीम साहब का दर्द जमींदारी चले जाने के कारण छलक पड़ता है। वे कहते हैं—

“एक ठो बेटा रहा ऊ पाकिस्तान चला गया। एक ठो जमींदारी रही,

ऊको समझो पाकिस्तान चली गयी। अरे जउन चीज हमरे पास ना है, ऊ पाकिस्तान न गयी? हमरे पास रह का गवा है? एक ठो बेवा बेटी, तीन ठो यतीम नवासे, नवासी, एक बहू और उहो बेवा ही है। तीन ठो पोते-पोती, ऊहो को यतीम समझो। कल एक ठो खजाना और मिल गया! सुखरमवा नालिस कर दीहिस..... हमरी समझ में तो भाई, कुछ आता न। नौ परानी का पेट कैसे चलायें।²

कुछ वर्ष पहले हकीम साहब की हकीमी खूब चलती थी। जमींदारी होने के कारण समाज में प्रतिष्ठा भी खूब थी, परन्तु आज परिवार के भरण-पोषण के लिए भी उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा है।

जीविका के जो साधन थे वे ज्यादातर लोगों के हाथ से छिन गये। जिन लोगों ने कुछ पूँजी बचा रखी थी उन्होंने छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ कर दिया। फुस्सू मियाँ की भी हालत यही थी। उन्होंने इमामबाड़े वाले कमरे में जूते की दुकान खोल ली और मिगदाद के आ जाने से उनका व्यापार और ठीक प्रकार चलने लगा-

“मिगदाद के आ जाने से उनके घर की बहुत सी मसायल खत्म हो गयी थी। एक तो गल्ला बहुत आने लगा था। ऊपर का खर्च जूते की इस दुकान से निकल आता था जो उन्होंने इमामबाड़े वाले कमरे में चालू कर दी थी।..... धीरे-धीरे दुकान चल निकली। पहले तो उन्हें ग्राहकों से बात करते शर्म आती थी। ग्राहक भी कैसे, जिनकी पुश्तें उन्हें और उनके बुजुर्गों को सलाम करने में गुजरी थी? वही गाँव के जुलाहे और राकी वही चमार और अहीर।³

वर्ग-संघर्ष का एक उदाहरण परुसराम जो कि जाति से चमार है, जीवन भर मियाँ लोगों की जी हुजूरी करता था लेकिन जब से वह एम0एल0ए0 हो गया वह मियाँ लोगों के बराबर बैठने लगा। उनके साथ हुक्का पानी भी पीने लगा। यथा-

“जब परुसराम आता तो शाम को उसका दरबार लगता। उसका दरबार गाँव का सबसे बड़ा दरबार होता। उसके दरबार में लखपति भी आते

●●● वीथिका ●●●

और फाकामस्त सय्यद साहिबान भी। ये लोग कुर्सियों पर बैठते, सिगरेट पीते और रेडियो सुनते। उनसे थोड़ी ही दूर पर गाँव के गरीब-गु-र-बा होते जो पहले की तरह जमीन पर उकडू बैठते खैनी खाते और बीड़ी पीते। उनकी किस्मत में जमीन पर ही बैठना लिखा था बस उन्हें यह तस्कीन थी कि उनका एक आदमी मियाँ लोगों की कुर्सी पर बैठता है।⁴

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में जो हलचल महसूस हुई उससे लोगों की आर्थिक स्थिति में उतार एवं चढ़ाव दोनों देखने को मिलता है। परुसराम और हकीम साहब इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। लोगों को अवसर मिला कि वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार कर अपनी सामाजिक स्थिति भी सुदृढ़ कर सकते हैं।

राही मासूम रजा के उपन्यासों में भी इस प्रकार के भ्रष्टाचार के उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। 'आधा गाँव' उपन्यास में पुलिस अधिकारी रिश्वत की लालच में अपराधियों को मुक्त कर देते हैं तथा निरपराधियों को दण्ड देते हुए दिखाए गये हैं। अनवारुल हसन झूठा मुकद्दमा चलाने के लिए थानेदार को घूस देता है-

"नाश्ते के बीच में उसने थानेदार को पाँच सौ रुपये दिये कि कम-से-कम मीर उब्बाद और मौलवी बेदार पर फौजदारी का मुकद्दमा जरूर कायम कर दिया जाय। मगर थानेदार हरनारायण प्रसाद को इसकी परेशानी थी कि उन्हें कोई गवाह नहीं मिल रहा था। फिर भी पाँच सौ की रकम ऐसी मामूली भी नहीं होती कि कोई थानेदार उसे यूँ ही हाथ से निकल जाने दे।"⁵

'आधा गाँव' में दरोगा हरनारायण प्रसाद से जब वारफंड में रुपया जमा कर रहे थे तब वे वार फंड के साथ ही साथ अपने फंड के लिए भी उन्हीं आसामियों से पैसा ऐंठ रहे थे।

"दरोगा जी सँभल गये। क्योंकि उन्होंने तय किया था कि गोबरधन को सिर्फ हजार की रसीद दी जायेगी, वह गोबरधन से जी-ही-जी में खुश हो गये क्योंकि अब हिसाब ठीक हो जायेगा। उन्होंने तय किया कि बार फंड के लिए बीस हजार और अपने फंड के लिए तीस हजार जमा करेंगे।

गोबरधन की रकम से उनके तीस हजार पूरे हो रहे थे और वारफंड भी अट्टारह हजार तक पहुँच रहा था।⁶

पुलिस और प्रशासन जो कि समाज की सेवा के लिए बनाये गये हैं, वे अपने कार्यों से विमुख होकर लोगों की सेवा व सुरक्षा के स्थान पर येन-केन प्रकारेण उनका शोषण कर रहे हैं।

बेरोजगारी की समस्या का समस्त सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन एक यांत्रिक प्रक्रिया बन कर रह जाता है। स्वतंत्रता के समय से ही इस यांत्रिक समस्या को साम्प्रदायिक रूप दे दिया गया था। टोपी शुक्ला उपन्यास में राही मासूम रज़ा ने इस समस्या का चित्रण किया है। यथा—

“अगर ये सारे मुसलमान पाकिस्तान भेज दिये जायें तो जो नौकरियाँ इन्हें मिलती हैं वह भी हिन्दुओं को ही मिलेंगी।”

नौकरी।

यह कैसा घिनौना शब्द है!

बात यह है कि दो-चार बार ऐसा हुआ कि जिस जगह के लिए मुन्नी बाबू ने एप्लाई किया वह जगह एक मुसलमान को मिल गयी।

यह नौकरी दोधारी तलवार है। एक तरफ हिन्दुओं को मुसलमानों से काटती है तो दूसरी तरफ मुसलमानों को हिन्दुओं से। हालाँकि बात यह है कि देश नया-नया आज़ाद हुआ है तो क्या उन लड़कों का नौकरियों पर अधिक अधिकार नहीं है जिनके बाप, मामू, दूर के चाचा.... गरज कि किसी भी रिश्तेदार ने आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया था? अगर मैं किसी कमीशन का मेम्बर हूँ तो क्या उनके आने वाली तमाम नौकरियों पर मेरे रिश्तेदार या जाति-बिरादरी वालों का हक ज्यादा नहीं हो जाता? आम लोग तो पागल हैं उनकी समझ में यह छोटी सी बात नहीं आती।⁷

राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में आर्थिक चेतना के विवेचनोपरान्त निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि लेखक ने अपने समय की लगभग सभी आर्थिक समस्याओं का चित्रण करने में पूर्णतः सफलता पायी है। उपन्यास के पात्रों के एक-एक कथन सरकारी आर्थिक नीतियों पर

●●● वीथिका ●●●

कुठाराघात है। ये पात्र हमारे ही जीवन से उठाये गये हैं। इनकी समस्याएँ हमारी ही समस्याएँ लगती हैं। निम्न और मध्यमवर्गीय जीवन आज जिस प्रकार आहत और असंतुष्ट है उसकी सहज परिणति इन उपन्यासों में हुई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसी पंक्तियाँ आज भी अपना पूर्ण अर्थ देने में असफल हैं।

सन्दर्भ —

1. हिन्दी उपन्यास में वर्ग भावना : प्रेमचन्द युग, प्रताप नारायण टण्डन, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण-1956.
2. हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, अलोपी बाग, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण-2008.
3. हिन्दी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी, सप्तम संस्करण-2009.
4. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्राइवेट प्रकाशन लिमिटेड, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, दसवीं आवृत्ति-2010
5. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ0 307
6. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, 322
7. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ0 325
8. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, 334-335
9. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ0 77
10. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ0 143
11. टोपी शुक्ला, राही मासूम रज़ा, पृ0 69

समकालीन हिन्दी कविता का स्वरूप और दिशा

विकास चौरसिया*

समकालीन समय इतिहास के आइने में वह समय है जो आज की प्रासंगिकता को दर्शाता है। समाज का बोध कराने वाली हर कलात्मक अभिव्यक्ति चाहे वह कला हो, साहित्य हो, सिनेमा हो यदि वह आज को प्रभावित करती है तो वह समकालीन है। आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में समकालीन हिन्दी कविता का विशेष योगदान रहा है।

समकालीन हिन्दी कविता की शुरुआत कहाँ से मानी जाए? विद्वानों में अलग-अलग मतभेद हैं। कुछ विद्वान समकालीन कविता की जड़ें भारतेन्दु में खोजते हैं जो निराला, नागार्जुन और मुक्तिबोध की परम्परा के रूप में विकसित होकर आज हमें प्राप्त होती है, कुछ विद्वान सन् 1960 के बाद लिखे जाने वाली कविता को, कुछ सन् 1980 के बाद लिखी जाने वाली कविता को समकालीन कविता मानते हैं।

समकालीन कविता नई कविता के विभिन्न आंदोलनों में से एक काव्यांदोलन है। हिन्दी काव्य साहित्य में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग विशम्भर नाथ उपाध्याय ने किया। इसके स्वरूप और परिभाषा को लेकर मतभेद है। 1970 ई0 के बाद लिखी गयी कविता को मोटे तौर पर यदि समकालीन कविता मान लिया जाये तो सीमांकन की सुविधा हो सकती है। इस समयावधि में विभिन्न विचारधाराओं के कवि सक्रिय दिखाई देते हैं। इन अन्तर्विरोधी विचारधाराओं के कारण समकालीन कविता में जनवादी चेतना को उसका सामान्य तत्व मान लेने में सुविधा हो सकती है। समकालीन कविता का कथ्य जनसामान्य के हितों के अनुकूल उन सभी तथ्यों का चित्रण है, जिससे मानव प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। डॉ0 विशम्भर नाथ

* शोधछात्र, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

●●● वीथिका ●●●

उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता का यथार्थ' में लिखा है कि— "समकालीन कविता अपने समय के मुख्य अंतर्विरोधों और द्वन्द्वों की कविता है। समकालीन कविता में जो हो रहा है, का सीधा खुलासा है। इसको पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है, क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, बौखलाते, तड़पते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।

सन् 1975 में लगे आपातकाल, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के लिए गूँजते नारे, 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस की करारी हार, नवगठित सरकार से जनता की असंतुष्टि, मध्यावधि चुनाव कांग्रेस के पुनरागमन, इन्दिरा गाँधी की हत्या, नागरिक असंतोष के नए-नए कारण समकालीन कविता का विषय बनते हैं। देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संतुलन की ध्वनि आमजन की समस्याओं के रूप में स्पष्ट दिखाई देती हैं। रघुवीर सहाय 'खोज-खबर' शीर्षक कविता में लिखते हैं—

"यह तुमने क्या लिखा

झुर्रिया, उनके भीतर छिपे

उनके प्रकट होने के आसार

आँखों में उदासी—सी एक चीज़ दिखती है

यह तुमने मरने से पहले का वृत्तान्त क्यों लिखा।"

सन् 1980 ई0 के पहले के समय में लिखी गई समकालीन कविता में जनवादी स्वर मुखर हैं। यद्यपि जनवादी काव्य का तात्पर्य सामंतवाद विरोधी काव्य से है, किन्तु विभिन्न कालों में, अलग-अलग देशों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों एवं चुनौतियों के अनुरूप इसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। इसलिए कभी यह सामंतवाद विरोधी, कभी सामंतवाद-साम्राज्यवाद विरोधी तो कभी सामंतवाद-साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी दिखाई देता है। 'हथौड़े का गीत' शीर्षक कविता में केदारनाथ अग्रवाल ने इस परम्परावादी सामाजिक ढाँचे को तोड़ने की वकालत की है—

“मार हथौड़ा
 कर कर चोट
 लाल हुए काले लोहे को
 जैसा चाहे वैसा मोड़
 मार हथौड़ा
 कर कर चोट
 थोड़े नहीं अनेको गढ़ ले
 फौलादी नरसिंह करोड़ ।”²

समकालीन कविता के सन्दर्भ में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर का नाम पहले आता है। आठवें दशक के बाद काव्य क्षितिज पर अवतरित कवियों ने इनकी परम्परा से अपने को जोड़ते हुए मध्यवर्गीय जीवन के साथ निम्न वर्ग और वंचित-शोषित वर्ग की पीड़ा, संघर्ष, आकांक्षा और जिजीविषा को स्वर दिया है। ऐसे कवियों में रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, वेणु गोपाल, आलोकधन्वा, केदारनाथ सिंह, दुष्यन्त कुमार, अदम गोंडवी, राजेश जोशी, धूमिल, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, पंकज सिंह, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति, गोरख पाण्डेय, अरुण कमल, रंजना जायसवाल, वीरेन डंगवाल, देवेन्द्र आर्य आदि प्रमुख हैं।

“आज चाहे स्त्री विमर्श हो या दलित विमर्श या फिर वर्तमान आर्थिक विषमताओं, वैश्वीकरण, हाशिए पर पड़े गरीबों-आदिवासियों की समस्याएँ, पारिवारिक व सामाजिक मसलों अथवा भ्रष्टाचार व शोषण की बात हो, समकालीन कविता ऐसे तमाम ज्वलन्त सरोकारों का प्रतिनिधित्व कर रही है।”³ लोकतांत्रिक हुक्मरानों ने अपने लाभ हेतु जनता का हर तरह से शोषण किया है, साथ ही इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए नित नए-नए कानूनों द्वारा जनता के अधिकारों में कटौती, अपने हक के लिए आवाज बुलंद करने वालों का पुलिस बर्बरता से दमन, विरोध प्रदर्शन करने वाले जुलूसों पर

●●● वीथिका ●●●

लाठी-चार्य, जन नेताओं की हत्या, फर्जी मुठभेड़ों के नाम पर निरपराध लोगों की हत्या कर रही है। आजादी के बाद अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही जनता पर स्वदेशी सरकार के जुल्म को उजागर करते हुए केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है—

**“जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने:
घर का मलवा, टूटी खटिया
कुछ हाथ भूमि वह भी परती।”⁴**

समकालीन कवियों ने आजादी, लोकतंत्र, कानून और संविधान के खोखलेपन को उजागर किया है। देश का लोकतंत्र, संविधान और कानून पैसे वालों के हित रक्षा में रत है। साधारण जनता को हर जगह छला जा रहा है। ऐसी स्थिति में जब सरकार के मंत्री, नेता, अधिकारी, स्वतंत्रता, संविधान, न्याय और कानून की बात करते हैं तो उनकी स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। देश में सर्वव्यापी भ्रष्टाचार का चित्रण दुष्यन्त कुमार ने इस प्रकार किया है—

**“न हो कमीज़ तो पाँवों से पेट ढंक लेंगे
ये लोग कितने मुनासिब हैं, इस सफर के लिए”⁵**

समकालीन कवि अरुण कमल ने संचार माध्यमों द्वारा जन साधारण के दमन तथा रोजमर्रा की समस्याओं को नजरअंदाज कर चटपटी खबरों को तरजीह देने की विसंगति की ओर लक्ष्य करते हुए लिखा है—

**“अखबारों में खबर थी—
कैलिफोर्निया की एक कुतिया ने तेरह बच्चे/एक
साथ जने।
अखबारों में खबर थी/युवराज ने कंगालों में कम्बल
बाँटे
अखबारों में खबर थी/विश्व सुन्दरी का वजन 39
किलो है।**

अखबारों में खबर थी / राजनेता ने दाढ़ी मुड़ाई ।
 एक खबर जो कहीं नहीं थी,
 किश्ता गोड को फाँसी हो गई / भूमैया को फाँसी हो
 गयी ।”

आज की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण कालाबाजारी, मुनाफाखोरी से जनता की दाल-रोटी उसकी पहुँच से बाहर हो गयी है। इसके विपरीत जमाखोरों के पौ बारह हैं। शासन में बैठे राजनेता पूंजीपतियों के ही हितचिन्तक एवं रक्षक हैं। राजनीतिक जीवन में आयी गिरावट के बारे में नागार्जुन ने अपने क्षोभ को व्यक्त करते हुए लिखा है—

“राजनीति क्या है? बिष्ठा है, मल है
 साहित्य क्या है? गंगा का जल है ।
 दिखाने के दाँत और खाने के और
 आप तो अमलेन्द्र जी ठहरे, खैर समाज के सिरमौर
 जातिवाद का डंडा है, राजनीति मथनी
 करनी अलग है, अलग है कथनी ।”

समकालीन कविता अपने समाज और परिवेश से संपृक्त है। जनता की आशा-निराशा, राग-द्वेष, सुख-दुःख उसमें समाये हुए हैं। समकालीन कविता में राजनैतिक भ्रष्टाचार जनता की कठिन होती दैनिक दिनचर्या, सामाजिक विकृतियाँ, सिद्धान्तों का खोखलापन समेटा गया है। पूर्व की कविता की तुलना में समकालीन कविता में सपाट बयानी अधिक है। इस कविता का स्वर आक्रोश से भरा हुआ है। इस काल की कविता में मनुष्य जिन विसंगतियों, तनावों एवं कुंठा को लिए हुए जी रहा है वे सभी वास्तविक हैं। समकालीन कविता में निर्मम वास्तविकताओं का यथार्थ चित्रण है। इसका कवि तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था और समस्याओं के प्रति पूर्णतया सजग है। इस कविता में कवि की व्यक्तिगत पीड़ा के साथ-साथ व्यवस्था के प्रति मोहभंग तथा आक्रोश का चित्रण किया गया है। समकालीन

●●● वीथिका ●●●

कविता केवल व्यवस्था के प्रति मोहभंग, आक्रोश और क्षोभ को ही प्रकट नहीं करती बल्कि श्रमशील जनों की आवाज बनती हैं, दुष्यन्त जी लिखते हैं—

“दुकानदार तो मेले में लुट गए यारों!

तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।”⁶

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता व्यक्ति के भीतर विवेक को जगाकर उत्पीड़नकारी शक्तियों का प्रबल प्रतिरोध करने की अपार क्षमता रखती है।

नब्बे के बाद की हिन्दी कविता में प्रतिरोध की आवाज ऊँची व आक्रामक हो जाती है। पूनम तूषामड़ की कविता में मृत ‘सफाई कर्मचारी’ अपनी मौत पर व्यंग्य करता है कि—

“मेरी मौत से

तुम्हारे राष्ट्र ने

न कुछ अर्जित किया

न कुछ गंवाया है.....।”

फरीद खाँ की कविता ‘भूख’ का एक उदाहरण देखिए—

भूख बनाती है मूल्य

इस पार या उस पार होने को उकसाती है

नियति भूख के पीछे चलती है

ढा देती है मीनार

सभी ईश्वर देवी देवता स्तब्ध रह जाते हैं

भूख रचती है इतिहास”

इरोम शर्मिला के अनशन के प्रसंग में लिखी गई मृत्युंजय की कविता ‘दस साल’ में कुछ ऐसे सवाल भारतीय लोकतंत्र के सामने रखे गए हैं जो सोचने पर विवश कर देते हैं—

“तुम्हारे घर में कौन-कौन है ?

भाई ?बहन ?अम्मी ?अब्बू ?

चाय के झुरमुटों के बीच सीधी रेखाओं में निहों कोरस ?
 तुम्हारे पड़ोस में कौन रहता है ?
 कितने हत्यारे हैं तुम्हारे मुहल्ले में.....?

अन्त में इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समकालीन कविता का स्वरूप हो, संवेदना हो, शिल्प हो या भाषा। कबीर की भाँति भाषा और शिल्प की चिंता किए बगैर गहन भावों की अभिव्यक्ति को सहज रूप में व्यक्त किया जा रहा है।

संदर्भ —

1. सृजन, समाज और संस्कृति, उमेश चौहान साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण-2014, पृ0 58
2. कविता की संस्कृति, ए0 अरविंदाक्षन, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण-2016, पृ0 47
3. सृजन, समाज और संस्कृति, उमेश चौहान साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण-2014, पृ0 55
4. कविता की संस्कृति, ए0 अरविंदाक्षन, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण-2016, पृ0 48
5. सृजन, समाज और संस्कृति, उमेश चौहान साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण-2014, पृ0 85
6. वही, पृ0 88

राजकमल चौधरी के उपन्यासों में स्त्री-समलैंगिकता की त्रासदी

दीपक कुमार*

राजकमल चौधरी ने अपने उपन्यासों में नारी समलैंगिकता, यौन विकृति, फिल्म-कल्चर, महानगरों के निम्न वर्गीय तथा उच्च वर्गीय समुदाय, नशा सेवन, विक्षिप्त चरित्र, वीभत्स एवं कुत्सित व्यवहार इत्यादि अनेक समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई। राजकमल ने अपने उपन्यासों में स्त्री समलैंगिकता पर गहराई से प्रकाश डाला है। राजकमल के द्वारा हिन्दी में लिखे गये उपन्यासों में जीवन्त नग्न यथार्थ का उद्घाटन हुआ है। आपके उपन्यासों में कथ्यगत और शिल्पगत नवीनता तथा वैविध्य के महत्वपूर्ण उदाहरण देखने को मिलते हैं। राजकमल ने अपने उपन्यासों में स्त्री-समलैंगिकता की त्रासदी को बड़ी ही प्रमाणिकता के साथ उठाया है।

प्रकृति के विरुद्ध, अमानवीय कृत्यों को, शोषण को राजकमल ने अपनी लेखनी का आधार बनाया। राजकमल ने ऐसे विषयों पर लेखनी चलाई जिस पर बात करने से भी सभ्य समाज कतराता है। 'ताश के पत्तों का शहर' की भूमिका में ही आपने ज्वलन्त समलैंगिकता पर अपनी प्रमाणिक बात रखी—

1961 dh

eatwvkj plnk dsfy, A

¼, d l oky&D; k r e nkuka

yfLc; u ughaFkha\½

राजकमल ने अपने समकालीन समाज और समस्याओं पर खुलकर प्रहार किया है। सभ्य समाज की बिगड़ी लड़कियों की मानसिकता और जीवन शैली पर खुलकर प्रकाश डाला है। शराब, नशा सेवन, मुक्त जीवन

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

यापन ने पूरे जीवन को बर्बाद कर दिया । 'ताश के पत्तों का शहर' की पात्र बन्दना उर्फ बोनी कहती है&^fdl h i q "k us mpxfy; ka l s Hkh ej s vkB Li 'kz ughafd, gñA Li 'kz fd, gS > juk JhokLro us] xkerh us] eat w us vkj plnk us] vkj ekxj V ekj h usA vkj uhye us eqs pæk gSA ejk l; kj fy; k gS] eqs l; kj fn; k gñA eqs bu l Hkh l s l; kj gñ²

अतिशय स्वतन्त्रता की भावना पुरुषों और नारियों को गर्त में ले जाती है । आज के आपा-धापी जीवन ने मनुष्यों को यन्त्रवत कर दिया है । मध्य वर्ग की मानसिक त्रासदी को राजकमल ने अपने लेखन का आधार बनाया है । अतिशय सुख प्राप्त करने की भावना ने जीवन को गर्त में डाल दिया है । अश्लील फिल्मों, नशे की चपेट में पड़कर युवक-युवतियाँ अपने जीवन को तबाह कर रहे हैं । अश्लील फिल्मों का यह व्यापार मनुष्य का पशुवत व्यवहार करने को विवश कर देता है । बन्दना(बोनी) अपनी डायरी में लिखती है & ^eñrks^jæp^ñl jseryc l sxbZ Fkh A l kpk Fkh fd gtkj & nks gtkj : i; sl at; l smrkj ypxh A l at; dh NkVh cguehjk l snkLrh d: pxh A ehjk tñ h [kñcl jir yMdh i j sdydRrsea ugha gñA eqs [kñcl jir yMfd; k; cgr vPNh yxrh gñ----mul s gkFki kbz djus ea xys ea gkFk Mkydj pñeus ea] j tkbz ds vUnj fyi V dj l kus ea---yxrk gS eñ enZ cu x; h gñA , dne fl j l s i kñ rd enA yMfd; k; eqs i l Un gñ] enZ ugha³

राजकमल ने बड़ी ही गहराई से अपने समय और समाज की इन सारी समस्याओं पर खुलकर प्रकाश डाला है । समाज की कुरूपताओं, विडम्बनाओं, विसंगतियों पर उन्होंने खुलकर प्रहार किया है । राजकमल ने मुखौटों के पीछे छुपी हुई सच्चाई को समाज के सामने लाने का प्रयास किया है । अच्छे संस्कारों के अभाव में ये लड़कियाँ गहरी गर्त में जा गिरती हैं । बन्दना उर्फ बोनी अपने साथ-साथ अपनी अनेक सखियों के जीवन को भी

●●● वीथिका ●●●

चौपट कर देती है। अपने शरीर की आग में बोनी कितनी ही लड़कियों के जीवन को तबाह कर चुकी है। इतना ही नहीं वह नए-नए शिकार में प्रतिदिन घूमा करती है। बोनी अपने शरीर की आग को अपनी सखियों से शान्त करती है & ^eš B Mh ugha g w c l n Tokyked [kh g w] v k š j p u k J h o k L r o ; k u h y w d s i k l v k r s g h Q w i M r h g w A / k / k d u s y x r h g w A u l a r u t k r h g š --- x e z y k o k c g u s y x r k g w ^ d

राजकमल ने अपने बहुचर्चित उपन्यास 'मछली मरी हुई' (1966ई.) में भी स्त्री समलैंगिकता के प्रश्नों उठाया है। शीरीं और उस की बड़ी बहन दोनों समलैंगिक हैं। दोनों एक साथ ही कमरे में रहती हैं। शीरी कहती है & ^ , d f n u c M h c g u u s f c ; j l s H k j s f x y k l d s l k F k l e > k ; k f d n k s v k š r s H k h i j L i j ' k k j h f j d t h o u f c r k l d r h g w A f c u k f d l h i q " k d h l g k ; r k d s f c r k l d r h g w A c M h c g u u s r j h d k c r k ; k A v i u s c u k , r j h d s i j v k x s c < r h x b z A ' k h j h v k ' p ; p f d r F k h A o g c g n m R r f t r F k h A c g u t k s d j u k p k g r h d j u s n r h F k h ! r f u d H k h b u d k j u g h a] t j k H k h , s j k t u g h a ! d k b z i q " k ' k h j h a d k s b r u h ' k h r y r k] b r u h ' k h r y r k m R r s t u k] b r u k m R r s t d ' k k j h f j d o n u k u g h a n s l d r k F k k A u g h a n s l d r k F k k A ^ 5

किशोरावस्था के भटकाव की आयु होती है। लेकिन बहुतायत माता-पिता, गुरुजन अपने बच्चों को मनोवैज्ञानिक शारीरिक ज्ञान नहीं देते हैं। इन्टरनेट, अश्लील वेबसाइटों से वे अपने शारीरिक उत्तेजनाओं के ज्ञान को पाना चाहते हैं, इस तरह गलत रास्ते की ओर चले जाते हैं। संकोच वश किसी अन्य से वह अपने दिलों की बात को कह भी नहीं पाते हैं। गलत व्यक्तियों की संगति उन्हें बिगाड़ देती है। शीरी की बहन अपने साथ अपने बहन के चरित्र को बर्बाद कर देती है। शीरीं को सही गलत का ज्ञान ही नहीं होता है। राजकमल आगे लिखते हैं & ^ n k u k a c g u s j k r e a f c l r j i j b d V B h l k r h F k h A n j o k t s f [k M f d ; k j c l n d j y r h F k h A L k h f y a x

Q& ijh Li hM ea pyr k jgrk Fkk----- 'khjha Hkhx tkrh Fkh ml s
 egl | gkrk Fkk] ml dsgkFk vksj i kp B&msi M+jgsg&A testk jgs
 g&A fQj Hkh og cMh cgU l sfyi Vh jgrh Fkh A cMh cgU [kd kh l s
 ph[krh FkhA [kd kh vksj i kxy i u vksj csgk's khA⁶

राजकमल चौधरी का आलोच्य उपन्यास 'मछली मरी हुई' के केन्द्र बिन्दु में नारी समलैंगिकता और अर्थतंत्र का व्यूह है । जिसमें अजीबो गरीब और सर्वथा नवीन विषय का विस्तार दिया गया है । आप ने स्त्री समलैंगिकता के प्रश्नों को बड़ी ही प्रमाणिकता के साथ उठाया है । समलैंगिकता के दलदल में फँसी लड़कियों की व्यथा को पूरी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है । राजकमल ने उपन्यास की भूमिका में ही स्वीकार किया है कि 1962 ea gekjs , d fe=&ifjokj dh nks fL=; ka dks , d l kFk ekuf l d mRrstuk vksj fo{ksi ds dkj .k vLi rky Hkstk x; k Fkk-----; g mi U; kl mUghafnukafy [kk tk jgk Fkka⁷ राजकमल ने समाज के ऐसे विषयों का चयन किया है जो समाज को उन का आइना दिखाते हैं । राजकमल ने अनेक स्थानों पर स्वीकार किया है कि समाज को उन्होंने जैसे देखा , समझा तथा महसूस किया वही बात साहित्य में आप ने लिखी है । इसी उपन्यास के सन्दर्भ में प्रोफेसर देवशंकर नवीन लिखते हैं &^eNyh ejh gpZ mi U; kl ea vkrædkjh l gjæka ea euq; dh ejrh gpZ l ænukvka dh [kkt RkFk ; u&du i zkj s k mu v&kjh l gjæka ds HkVdko , oa neuh; rk l sefDr dh dFk gA⁸

राजकमल ने पतित समाज को आईना दिखाने का काम किया । राजनेताओं , उद्योग पतियों , संपादकों , सभ्य कहे जाने वाले लोगों के मुखौटों को उतारकर उनका सही आइना दिखाया है । समाज में फैली कुरूपताओं , भ्रष्टाचारों को राजकमल ने अपने लेखन का आधार बनाकर उन्हें नंगा करने का काम किया है । 'ताश के पत्तों का शहर' उपन्यास में बन्दना सिंह उर्फ बोनी अपनी डायरी में लिखती है &^e&D; k cu xbz \MKDVj ; k tTk \ e&

●●● वीथिका ●●●

D; k l sD; k cu xbl! vksj , s k eq>sfdl uscuk; k \bz oj usj ; k
I ks kbVh usj ; k pksj h&pkj h i <h xblxUnh fdrkckauA⁹

उपन्यास की इन पात्रों के पास अन्त में कुछ भी नहीं बचता है। जो भी ऐसा कलुषित जीवन यापन करते हैं अन्ततः उन्हें नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त होना पड़ता है। इस अंधेरी गुफा में चले जाने के पश्चात् लौटने का कोई भी रास्ता नजर नहीं आता है। राजकमल ने अपने समय, समाज का सच्चा यथार्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। शीरीं और बन्दना सिंह अपने साथ अपनी सखियों के जीवन को भी तबाह कर देती हैं। शराब, अफीम, चरस, गांजा, सिगरेट का नशा इन सब को जवानी की उम्र में ही बुढ़ापे का समय ला देता है। जीवन में अच्छे संस्कारों का होना बहुत ही जरूरी है।

I UnHkZ&

1. ताश के पत्तों का शहर, राजकमल रचनावली, संपादक देवशंकर नवीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ0 283 ।
2. ताश के पत्तों का शहर, राजकमल रचनावली, संपादक देवशंकर नवीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ0 338 ।
3. ताश के पत्तों का शहर, राजकमल रचनावली, संपादक देवशंकर नवीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ0 337 ।
4. ताश के पत्तों का शहर, राजकमल रचनावली, संपादक देवशंकर नवीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ0 340 ।
5. 'मछली मरी हुई', राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009, पृ0 122 ।
6. 'मछली मरी हुई', राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009, पृ0 122 ।
7. 'मछली मरी हुई', राजकमल चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009, पृ0 7 ।
8. राजकमल चौधरी : जीवन एवं सृजन, प्रो. देवशंकर नवीन, प्रकाशन

विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ0 245 ।

9. ताश के पत्तों का शहर, राजकमल रचनावली, संपादक देवशंकर नवीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृ0 341 ।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार : एक नृजाति शास्त्रीय अध्येता



सत्या मिश्रा*

प्रसिद्ध मानवशास्त्री धीरेन्द्र नाथ मजूमदार ने भारतीय समाजशास्त्र के विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया है। इनका जन्म 1903 में पटना, बिहार में हुआ था। मजूमदार अपने बहुआयामी अध्यानों के लिए जाने जाते हैं। इन्होंने स्नातक की परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की एवं परास्नातक की शिक्षा भी मानवशास्त्र विषय में कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही ग्रहण की।

डी०एन० मजूमदार ने अपना प्रथम क्षेत्रकार्य विख्यात नृजातिशास्त्री शरत्चन्द्र रॉय के सान्निध्य में कोल्हन (बिहार) की 'हो' जनजाति का अध्ययन प्रारम्भ किया। 1928 में इन्हें प्रो० राधाकमल मुखर्जी ने 'प्रिमिटिव इकोनॉमिक्स', (प्राचीन अर्थशास्त्र) के प्रवक्ता के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग में प्राध्यापन हेतु चयनित किया। 1933 में मजूमदार कैंब्रिज चले गये जहां से उन्हें 1935 में शोध उपाधि प्राप्त हुई। इनके शोध प्रबन्ध का विषय था 'कल्चरल चेंज अमंग द हो'। शोध कार्य के दौरान इन्होंने सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन प्रो० टी०सी० हडसन एवं भौतिक मानवशास्त्र का अध्ययन प्रो०जी०एम० मोरंट (G.M. Morant) के साथ किया। इन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में मैलिनोस्की द्वारा आयोजित संगोष्ठी में भाग लिया अतः मैलिनोस्की के संरचनात्मक-प्रकार्यवाद का प्रभाव आजीवन इनके अध्ययनों पर रहा। मजूमदार ने प्रो० आर० रगलेस गेट्स के सान्निध्य में सीरम विज्ञान (Serology) का अध्ययन भी किया एवं गाल्टन लेबोरेट्री (लन्दन) में कार्य भी किया। इन्होंने देश-विदेश के अनेक अकादमिक एवं प्रशासनिक पदों को भी

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, नारी शिक्षा निकेतन पीजी कॉलेज, लखनऊ।

सुशोभित किया। डॉ० डी०एन०मजूमदार ने 1945 में 'नृजाति शास्त्रीय एवं लोक सांस्कृतिक सभा' की स्थापना लखनऊ, उत्तर प्रदेश में की। 1946 में इन्होंने पुनः लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग में प्राध्यापक (रीडर) के रूप में पदभार ग्रहण किया और अपने संपादकत्व में 1947 में 'द ईस्टर्न एंथ्रोपॉलॉजिस्ट' नामक शोध पत्रिका की नींव रखी। मजूमदार 1950 तक लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के साथ-साथ समाजशास्त्र का भी अध्ययन कार्य करते रहे और 1951 में नवसृजित मानवशास्त्र विभाग के विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए। 1952-53 में मजूमदार प्राच्य अध्ययनों के लिए अतिथि प्राध्यापक के रूप में कर्नेल विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए तत्पश्चात् इन्होंने मॉरिस ई० ओप्लर के प्रतिनिधित्व में भारत के फोर्ड फाउंडेशन एवं कर्नेल विश्वविद्यालय के सहयोग से 1953 में स्थापित लखनऊ कर्नेल शोध संस्थान को प्रारम्भ किया (मदन, टी०एन० एवं सरन गोपाल: 1962, प्र० 201-203)। यह उल्लेखनीय है कि लखनऊ कर्नेल प्रोजेक्ट के अन्तर्गत ही डी०एन० मजूमदार ने उ०प्र० के लखनऊ जिले की बख्शी का तालाब तहसील के मोहाना (गोहानाकलॉ) गाँव का अध्ययन किया था और उस पर आधारित उनकी पुस्तक 1958 में 'कास्ट एण्ड कम्युनिकेशन इन एन इंडियन विलेज प्रकाशित हुई (मजूमदार, 1958, पृ० - 06)। 1956 में मजूमदार द्वितीय अखिल भारती समाजशास्त्रीय सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। यह आयोजन पटना में किया गया था। धीरेन्द्र नाथ मजूमदार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न मानवशास्त्रीय संस्थानों, परिषदों, संगठनों एवं भारत सरकार के विभिन्न संस्थानों के सर्वोच्च पदों पर आसीन रहे और उनके विकास में सक्रिय योगदान दिया। इनका निधन 31 मई 1960 में लखनऊ, उ०प्र० में हुआ।

वस्तुतः धीरेन्द्रनाथ मजूमदार मौलिक रूप से मानवशास्त्री थे लेकिन न केवल इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग में 1929 से 1932 के मध्य एवं 1946 से 1950 के मध्य समाजशास्त्र विषय में अध्यापन कार्य किया अपितु इनके द्वारा निष्पादित किये गये अध्ययन

●●● वीथिका ●●●

समाजशास्त्र में भी उतने ही उपयोगी सिद्ध हुए जितने कि मानवशास्त्र में।

इनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं –

1. रेसेज़ एण्ड कल्चर ऑफ इंडिया (1944)
2. द मैट्रिक्स ऑफ इंडियन कल्चर (1946)
3. रूरल प्रोफाइल्स (संपादित) (1955)
4. कास्ट एण्ड कम्युनिकेशन इन एन इंडियन विलेज (1958)
5. भारतीय संस्कृति के उपादान (1958)
6. सोशल कान्वर्स ऑफ एन इंडस्ट्रियल सिटी (1960)
7. एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपॉलॉजी (1960) (सह-लेखक, टी०एन० मदन)
8. रेस एलेमेंट्स इन बंगाल (सह-लेखक सी.आर. राव), 1960
9. हिमालयन पोलैन्ड्री
10. अ विलेज ऑन द फ्रिंज
11. छोर का एक गाँव (1960)
12. प्रागृतिहास (सह-लेखक, गोपाल सरन)

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त डी०एन० मजूमदार के अनेक शोध आलेख विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए (मदन, टी०एन० एवं सरन, गोपाल : 1962, पृ० 204-212)। मजूमदार द्वारा प्रतिपादित जाति, जजमानी, जनजाति, गाँव, भारतीय संस्कृति सम्बन्धी बहु आयामी अध्ययन समाजशास्त्रीय शोध के क्षेत्र में अध्ययन सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

मूल रूप से मानवशास्त्र में प्रशिक्षित मजूमदार ने भौतिक एवं सांस्कृतिक मानवशास्त्र के अतिरिक्त ग्रामीण समाजशास्त्र और औद्योगिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी अध्ययन किये हैं। इस दृष्टि से भारतीय मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र में उनका योगदान बहुविध है। उन्होंने जनजातियों, कृषक समाजों (ग्रामों) के साथ-साथ कानपुर जैसे औद्योगिक

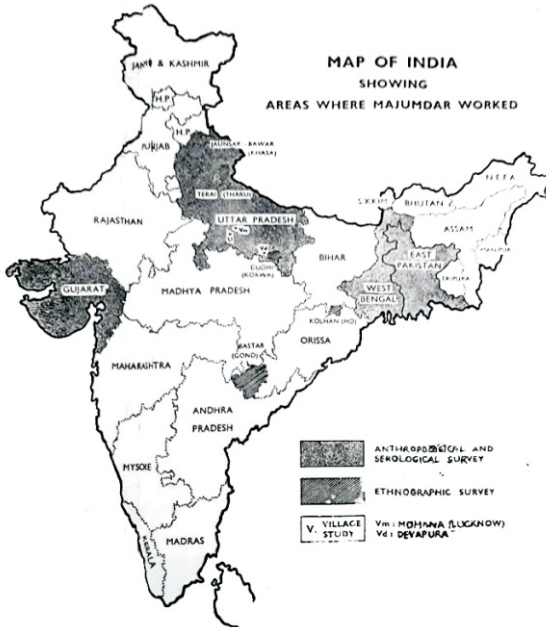
नगर का अध्ययन कर भारतीय नृ-विज्ञान की शोध सीमाओं को विस्तृत किया है। जनजातियों के सांस्कृतिक प्रतिमानों, सांस्कृतिक परिवर्तन, पर सांस्कृतिकरण के प्रभावों के अतिरिक्त संक्रमण के दौर से गुजरती हुई जनजातियों जैसे अनेक विषयों का अध्ययन कर शोध के कई नये मानदण्ड स्थापित किये हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्र के क्षेत्र के अतिरिक्त उनका भौतिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में पूरा-पूरा दखल था। उन्होंने जैवमितीय माप, सीरमी सर्वेक्षण और उत्खनन कार्य करके अपने आपको एक भौतिक मानवशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने प्रजातिक रचना एवं सामाजिक संस्तरण के मध्य सह-संबंध की संभावनाओं को भी टटोला है।

मजूमदार ने उत्तर प्रदेश के जाति-संस्तरण के अध्ययन हेतु जैवमितीय मापदण्ड का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, ऐसी जातियाँ जो एक गुच्छे के रूप में आपस में गुँथी-बँधी होती हैं, वे पद सौपानिक संगठन में एक दूसरे के निकट होते हैं। ऐसी जातियाँ जैवमितीय भिन्नता में भी परस्पर निकट होती हैं। इस प्रकार अविभजित बंगाल और गुजरात की जातियों में भी मजूमदार ने सामाजिक क्रम विन्यास एवं प्रजातिक विशेषताओं के बीच एक प्रकार का सह-सम्बन्ध पाया है। यद्यपि उन्होंने अपने अन्वेषण में जाति-संरचना की रचना में प्रजातिक कारक को महत्वपूर्ण माना है तथापि जाति के उद्भव में प्रजातिक कारक को महत्वपूर्ण मानते हुए भी उन्होंने स्पष्ट किया है कि जाति की व्याख्या किसी एक कारक के आधार पर करना निष्फल प्रयत्न है। उन्होंने इसी सन्दर्भ में 'प्रजातिवाद' का घोर विरोध प्रदर्शित किया है। मजूमदार ने मुख्यतः भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की खोज पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है इसके लिए उन्होंने जैवमितीय माप और रक्त समूहों का परीक्षण किया है। मजूमदार ने बी०एस० गुहा से असहमति प्रकट की है कि नीग्रोटो भारत की पुरातन प्रजाति है। रक्त समूहों के अपने परीक्षण के आधार पर उन्होंने रेखांकित किया कि भारतीय जनसंख्या में नीग्रोटो प्रजातीय तत्व की उपस्थिति प्रमाणित नहीं होती हैं। मजूमदार ने प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड या इंडो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति को भारत की आदिकालीन

●●● वीथिका ●●●

निवासी माना है। शारीरिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में प्रजातीय तत्वों के वितरण के अतिरिक्त उन्होंने भारतीय बालकों के विकास (ऑन्टोजेनेटिक) के अध्ययन में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की है। इस संदर्भ में लखनऊ नगर के बालकों का उनका अध्ययन उल्लेखनीय है (रावत, हरिकृष्ण, 2014, पृ0 292-293)।

डी0एन0 मजूमदार नृजाति शास्त्रीय समाज वैज्ञानिक के रूप में विख्यात है अर्थात् सांस्कृतिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में उनके अध्ययन नृजाति लेखन प्रकृति के रहे हैं और इन्होंने अपने अनेक अध्ययनों में नृजाति विवरणात्मक पद्धति (Ethnography) का प्रयोग किया है जिससे कि अध्ययन समूह का समग्रतावादी एवं लिखित ब्यौरा प्रस्तुत किया जा सके। टी0एन0 मदन एवं गोपाल सरन ने अपनी पुस्तक इंडियन एंथ्रोपॉलॉजी, ऐसेज इन मेमोरी ऑफ डीएनए मजूमदार' में एक मानिचित्र द्वारा मजूमदार द्वारा निष्पादित नृ-जाति विवरणात्मक अध्ययनों को दर्शाया है -



उक्त मानचित्र से स्पष्ट है कि मजूमदार ने दो गांवों, लखनऊ जिले की बख्शी का तालाब तहसील के मोहाना (गोहनाकलॉ) गांव एवं मिर्जापुर की दुद्धी तहसील के देवापुरा एवं धनौरा गाँव के अध्ययन में नृ-जाति शास्त्रीय अध्ययन पद्धति को प्रयुक्त किया है। स्वयं मजूमदार ने 1958 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कास्ट एण्ड कम्युनिकेशन इन एन इंडियन विलेज' के प्राक्कथन में इसे रेखांकित किया है (मजूमदार, 1958 : पृ0 5)। इसके अतिरिक्त उ0प्र0 के तराई क्षेत्र में थारू जनजाति, पश्चिमी-उत्तरी उ0प्र0 की जौनसार, बावर, खासा जनजाति, मिर्जापुर की दुद्धी तहसील की कोरवा जनजाति, बिहार की कोल्हन की हो जनजाति एवं बस्तर की गोंड जनजाति का भी इन्होंने नृ-जाति शास्त्रीय अध्ययन किया है। ये सभी जनजातीय अध्ययन प्राथमिक तथ्य सामग्री पर आधारित थे (मदन, टी0एन0 एवं सरन, गोपाल : 1962)। उल्लेखनीय है कि मजूमदार 'हो' जनजाति के बीच तीन वर्षों तक रहे और 1937 में इस पर आधारित पुस्तक '**संक्रमण के दौर में एक जनजाति**' की रचना की। लगभग बारह वर्ष पश्चात् (1947-49) उन्होंने इस जनजाति का पुनर्अध्ययन किया और इस अवधि में हो जनजाति पर आस-पास की खानों, कारखानों और युद्ध के पड़े प्रभावों का आकलन कर 1950 में एक अन्य पुस्तक 'एक जनजाति का जन जीवन' की रचना की। मजूमदार ने जनजातियों के सामाजिक जीवन के अध्ययन के अतिरिक्त उनके धर्म का भी गहन अध्ययन किया जिसमें भारतीय जनजातियों में 'मैरिट' के जीव सत्तावाद के लक्षणों को उपस्थित पाया है। उनके अनुसार मैलेनेशिया के लोगों की भाँति ही भारतीय जनजातियाँ (विशेषतः हो और मुण्डा) भी 'माना' जैसी एक आलौकिक, अदृश्य एवं अवैयक्तिक शक्ति में विश्वास प्रकट करती हैं जिसे वे 'बोंगा' कहती हैं। इसी आधार पर उन्होंने 'बोंगावाद' के विचार को प्रणीत किया। मजूमदार ने भारतीय संस्कृति को समझने के लिए 'मार्क' की अवधारणा प्रस्तुत की है। अंग्रेजी के शब्द MARC से उनका अर्थ Man (मानव), Area (क्षेत्र), Resources (संसाधन) और Cooperation (सहयोग) से है। मजूमदार के अनुसार ये चार स्तम्भ हैं जो

●●● वीथिका ●●●

भारत की संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति को समझने हेतु इन चार तत्वों को समझना आवश्यक है।

मजूमदार ने अपनी बहु प्रसिद्ध पाठ्यपुस्तक (1957), जो इन्होंने टी0एन0 मदन के साथ लिखी थी में भारतीय जनजातियों की समस्याओं के गहन विवेचन के साथ-साथ उनका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है। अग्रणी मानवशास्त्री मैलिनोस्की एवं शरतचन्द्र रॉय से गहन रूप से प्रभावित मजूमदार एक परिश्रमी एवं धैर्यवान क्षेत्र कार्यकर्ता थे वे सामाजिक सांस्कृतिक मानवशास्त्र की शोध-परम्परा के एक अनुभववादी (एम्पिरिशिष्ट) मानवशास्त्री थे। किसी जनजाति अथवा गाँव के अध्ययन हेतु वे लम्बे समय तक उस क्षेत्र की यात्राएँ करते थे और वहाँ रहकर प्राथमिक सामग्री जुटाते थे। जनजातीय एवं लोक बोली को सीखने में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने जनजातियों की समस्याओं को जानने की अपेक्षा उनके सांस्कृतिक पक्षों आर्थिक, नातेदारी शोध अध्ययनों में संरचनात्मक प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य को अपनाया और जनजातीय अध्ययनों के अतिरिक्त इसी उपागम का प्रयोग किया है (रावत, हरिकृष्ण : 2014, पृ0 293-294)। मजूमदार की अध्ययन पद्धति उनके ग्रामीण, जनजातीय एवं जातीय अध्ययनों में प्राथमिक तथ्यों, क्षेत्रकार्य पर आधारित नृती जाति शास्त्रीय रही है। वस्तुतः नृजाति शास्त्रीय अध्ययन पद्धति पचास के दशक में भारतीय समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में प्रचलित अत्यंत लोकप्रिय पद्धति रही है। किसी समाज के प्रथानुगत व्यवहारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों का विस्तृत वर्णनात्मक लेखा जोखा तैयार करने की विधा नृजाति लेखन कहलाती है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र की यह शाखा सामान्यतः आदिम अथवा पूर्व शिक्षित समाजों के विवरणात्मक अध्ययनों से सम्बन्धित है। ज्ञान की इस शाखा में विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा वर्णन को प्रमुखता दी जाती है। इसमें विश्लेषणात्मक समान्यीकरण अथवा सिद्धान्त रचना का कोई प्रयास नहीं किया जाता है। नृधा जातिलेखन में बहुधा सहभागी अवलोकन की शोधविधि का प्रयोग किया जाता है (रावत, हरिकृष्ण : 2007, पृ0 155-156)

स्पष्ट है कि डी0एन0 मजूमदार द्वारा निष्पादित किये गये नृ-जाति विवरणात्मक अध्ययन अपने वाले समय में मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय शोधों के लिए मार्ग प्रशस्त करेंगे।

सन्दर्भ —

1. मदन, टी0एन0 तथा सरन, गोपाल : 1962, इंडियन एंथ्रोपॉलॉजी एसेज इन मेमोरी ऑफ डी0एन0 मजूमदार, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।
2. माथुर, कृपा शंकर : 1958, प्राच्य मानववैज्ञानिक, वॉल्यूम-3 उ0प्र0 लोक सांस्कृतिक सभा, लखनऊ।
3. मजूमदार, डी0एन0 : 1959, कास्ट एण्ड कम्युनिकेशन इन एन इंडियन विलेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. मजूमदार डी0एन0 1960, छोर का एक गाँव (अनु0 चन्द्र भाल त्रिपाठी), एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।
5. रावत, हरिकृष्ण; 2014, समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।
6. रावत, हरिकृष्ण : 2007, उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशंस जयपुर।

महिला हिंसा: 'सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में'

डा० संध्या पाण्डेय*

महिला हिंसा का तात्पर्य मानवीय समाज में महिलाओं की मूलभूत आवश्यकताओं का हनन है सबसे दुख की बात यह है कि महिलाओं को उत्पीड़न का शिकार होना पड़ रहा है इसमें महिला भ्रूण हत्या, महिला शिशु हत्या, बाल विवाह, महिलाओं में विपरीत लिंग अनुपात, महिलाओं की शिक्षा और साक्षरता के प्रति घोर अन्याय, मातृत्व कुपोषण, कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न, छेड़-छाड़, बलात्कार के साथ-साथ घरेलू हिंसा की भी शिकार हो रही हैं। नारी हिंसा की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है इसमें एक विभत्स रूप बलात्कार है। अमरीका में एक वर्ष में प्रत्येक एक लाख में लगभग 40 महिलाएं बलात्कार की शिकार होती हैं वहीं भारत में प्रत्येक 5 मिनट में एक बलात्कार होता है भारत में प्रत्येक 24 घण्टे में 33 से अधिक महिलायें या तो जिन्दा जला दी जाती हैं या मार दी जाती हैं। अधिकांश हत्याये दहेज के लिए होती हैं। महिलाओं की यह हिंसा तो उनके जन्म के पहले से ही प्रारम्भ हो जाती है अगर होने वाली सन्तान लड़की है तो भ्रूण हत्या निश्चित है, अपराध एवं हिंसा सार्वभौमिक हो गयी है मानवीय सामाजिक जीवन बिताने के कर के रूप में अपराधिक हिंसा को सहन करना पड़ता है। स्त्रियों के प्रति हिंसा की घटनाओं में काफी वृद्धि हुई है नारी को सुरक्षा एवं सुख प्रदान करने के बदले पुरुषों ने उन्हें तिरस्कृत किया है, उसकी उपेक्षा, अपमान एवं अनादर किया है। यहाँ तक कि उसके साथ अमानवीय हिंसात्मक व्यवहार भी किया है उन्हें शारीरिक-मानसिक यातनायें देना, उसके साथ मारपीट करना, उनका शोषण करना, स्त्रीत्व को नंगा करना, भूखा-प्यासा रखकर या जहर देकर उसको दहेज की बलि चढ़ा देना निश्चित रूप से स्त्री के प्रति हिंसा एवं अपराध ही कहे जायेंगे।

* प्रवक्ता, समाजशास्त्र, जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद।

महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों एवं हिंसा को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया गया है –

- अपराधिक हिंसा – इसके अंतर्गत पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति आपराधिक हिंसा की प्रकृति के कारण किये जाते हैं जैसे – बलात्कार, अपहरण, तथा हत्या इस प्रकार के प्रमुख उदाहरण हैं।
- दूसरे प्रकार के, घरेलू हिंसा के अंतर्गत शारीरिक एवं मानसिक उत्पीड़न को सम्मिलित किया जाता है।
- तीसरे प्रकार की श्रेणी सामाजिक हिंसा जिसमें पत्नी/बहू को भ्रूण हत्या के लिये विवश करना, दहेज लाने जैसी हिंसक वारदातों को सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक हिंसा को यौन शोषण एवं यौन उत्पीड़न के रूप में देखा जाता है।

न्यायमूर्ति डा० पी० वेनुगोपाल ने 'भावात्मक एवं लैंगिक दुर्व्यवहार को घरेलू हिंसा का प्रमुख कारण बताया है। कई बार ऐसी घटनायें पति नशे में भी करते हैं'

वे सभी क्रियायें जो किसी भी स्वतन्त्रता सहज प्रसन्नता केवल विशेष के कारण बाधित करे अत्याचार कहलाती हैं। महिलाओं पर सदियों से अत्याचार हो रहे हैं उसे हर सामाजिक-राजनीतिक और यहाँ तक की धार्मिक परिवर्तनों के दौरान मौन होकर विभिन्न प्रकार के अत्याचारों का सामना करना पड़ता है महिलाओं को शिक्षण संस्थानों और दफ्तरों व अन्य कार्य स्थलों में महिलायें यौन शोषण का शिकार हो रही हैं नारी न तो सड़क पर सुरक्षित है और न ही आफिस में, यहाँ तक की घर के भीतर भी सुरक्षित नहीं है। समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों अपराधविज्ञान विशेषज्ञों के लिए अत्याचार चुनौती बने हुये हैं। जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है अनेक कानून कन्याओं और महिलाओं की सुरक्षा के लिए बनायें हैं परन्तु इसके बावजूद स्त्रीयों की दशा में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया है स्वामी विवेकानन्द ने भारत की स्त्रियों के विषय में चिन्ता प्रकट की थी भारत में दो बड़ी बुरी बातें हैं – 1. स्त्रीयों का तिरस्कार, गरीबों को जातिभेद द्वारा पीसना, स्त्रियों की

●●● वीथिका ●●●

स्थिति में सुधार हुये बिना संसार का कल्याण सम्भव नहीं है, महिलायें शिक्षित होंगी तभी तो देश का भविष्य उज्ज्वल होगा । देश में विद्या ज्ञान की शक्ति जाग उठेगी । महिलाओं की स्थिति एवं स्तर के सुधार के लिए इसकी शुरुआत सामाजिक स्तर पर ही होनी चाहिये, महिलाओं की वैधानिक स्थिति ठीक करने उससे सम्बन्धित मौजूदा वैधानिक प्रावधानों पर प्रभावी ढंग से अमल करने स्वास्थ्य सुरक्षा पर ध्यान देने और उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने में महिलाओं के संदर्भ में मानव अधिकारों का दृढ़ता से पालन करने से ही महिलाओं की दशा में सुधार लाया जा सकता है ।

अतः महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए उनके प्रति होने वाली हिंसा और दुर्यवहार को रोकने के लिए निम्न प्रयासों की आवश्यकता है जो निम्न हैं –

1. महिलाओं की स्थिति को शिक्षा, प्रभावी वैधानिक उपायों एवं प्रशिक्षण तथा रोजगार द्वारा सुधारा जा सकता है ।
2. महिला समस्या से सम्बन्धित परामर्श केन्द्रों की स्थापना की जाये ।
3. महिलाओं को आश्रय देने वाले स्वयं सेवी संगठन को प्रोत्साहन देना ।
4. महिला संगठनों का निर्माण व प्रचार ताकि महिलाओं को निःशुल्क कानूनी सहायता एवं परामर्श मिल सके ।
5. पृथक महिला न्यायालयों की स्थापना ताकि हिंसा की शिकार महिलाओं को शीघ्र न्याय मिल सके ।
6. जनसंचार माध्यमों द्वारा महिलाओं के प्रति हिंसा के संदर्भ में मानवता वादी एवं सकारात्मक भूमिका का निर्वहन हो ।

इसके साथ ही सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं को अपनी भूमिका और अधिक सजगता से निभानी होगी जिससे नारी हिंसा से सम्बन्धित अधिक से अधिक मामले सामने आ सकें तथा उनकी समस्या का निराकरण हो सके । इस दिशा में शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, समाज कल्याण विभाग एवं अन्य सामाजिक संगठन के बीच समन्वय कायम करने एवं कुटिल मानसिकता में बदलाव लाने की भी आवश्यकता है ताकि स्त्रियों की दशा में

सुधार सम्भव हो सके । साथ ही नारी को स्वयं भी इतना जागरूक होना होगा कि वह स्वयं के विरुद्ध होने वाली हिंसा का विरोध कर सकें और सामाजिक बन्धन व दायित्व उसे ऐसा करने से रोक न सकें । तभी महिलाओं को हिंसा, अत्यचार और भेदभाव से छुटकारा मिल सकता है ।

संदर्भ —

1. आहूजा, राम, सोशल प्रब्लम इन इंडिया, पृ0 215-218
2. प्रभु, पी0एच0, हिन्दु सोशल आर्गनाइजेशन, पृ0 191
3. पाण्डेय, संगीता, भारत में सा0 समस्यायें, पृ0 126, 128, 129
4. बाजपेई, अन्जु एवं बाजपेई, जी0के0 फिमेल क्रिमिनैलिटी इन इंडिया रावत पब्लिकेशन, जयपुर 2000
5. आहूजा, राम, वायलेंस अगेन्स विमन, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1998 ।
6. सेठ, मीरा, विमेन डेवलपमेन्ट: दी इंडियन एक्सपोज, पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2001

समकालीन संदर्भों में गोस्वामी तुलसीदास की प्रासंगिकता

हरेराम पाण्डेय*

आधुनिक समय में गोस्वामी तुलसीदास का कृतित्व उनकी दूरदर्शिता और सामाजिक उपादेयता का निर्वहन कर रहा है। वर्तमान में जन मानस की जो जीवन शैली है वह वास्तव में यांत्रिकी, भौतिकी विचार दृष्टि की ओर उन्मुख है। आधुनिक जीवन शैली को यदि समझने का प्रयास करें तो निश्चित रूप से हमें संघर्ष, खीझ, ईर्ष्या, तनाव जैसे विकारों का द्वन्द्व दिखायी पड़ेगा, वास्तव में मनुष्य में अब मानवता नहीं रही, संबंधों में अब वह मिठास नहीं रही इसका एक बहुत बड़ा कारण पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करना है हम भारतीय संस्कृति और सभ्यता से जितना दूर होते जायेंगे उतना ही नैतिकता का ह्रास होता जायेगा। जब-जब समाज पतनोन्मुख होता रहा है तब-तब कवियों की लेखनी ने अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए दिशा हीन हो रही सभ्यता को दिशा देने का प्रयास किया। अगर हम कबीर की बात करें या नानक, रैदास या जायसी और तुलसीदास की तो सदैव ही इन महान कवियों ने समरसता, सौहार्द, प्रेम की बात की है।

अद्यतन समय में गोस्वामी जी की महती आवश्यकता महसूस होती है। 'मानस' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की उपादेयता को समझने की आवश्यकता है मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम, आदर्श नारी की प्रतिमूर्ति सीता, भ्रातृप्रेम का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भरत, धैर्य और शील की जीती जागती मूर्ति उर्मिला, प्रेम और कर्तव्यनिष्ठा के प्रति समर्पित लक्ष्मण, साहस के उन्नायक हनुमान आदि पौराणिक चरित्र और व्यक्तित्व हमें आज भी प्रेरित करते हैं।

तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा और व्याप्त दुर्व्यवस्था से भारतीय समाज को उबारने के लिए तुलसी ने पुरुषोत्तम श्रीराम, के आदर्श

* शोध छात्र- नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, कोटवा जमुनीपुर, इलाहाबाद

एवं संघर्ष पूर्ण मर्यादित जीवन के माध्यम से जनमानस को ढाँढ़स बँधाने और उसके आत्म गौरव को पुनर्जीवित करने के लिए मानस की रचना की। विशेषता यह रही कि ऐसा उन्होंने आसन्न परिस्थितियों से निरपेक्ष रहकर किया, उनकी कृतियों में कहीं भी तत्कालीन शासन के प्रति कोई किसी प्रकार की खीझ अथवा आक्रोश नहीं है इसी कारण उनकी रचनाएँ अमर हैं। इस युग में गोस्वामी जी की प्रासंगिकता अक्षुण्ण है।

पौराणिक परम्परा के अन्य ग्रंथों की भाँति गोस्वामी जी के रामचरितमानस का विरोध करने वालों का कहना है कि मानस में सामाजिक दृष्टि का सर्वथा अभाव है, समाजवादियों का भी यही कहना है कि 'मानस' में 'समाजवाद' नहीं है अतः यह ग्रंथ भविष्य के लिए प्रासंगिक नहीं है ये सभी आरोप तुलसी को सम्प्रदायवादी सिद्ध करने के लिए अग्रसर हैं किंतु मात्र दो पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदास अपना ध्येय, अपना साध्य और उद्देश्य प्रस्तुत कर देते हैं –

“परहित सरस धरम नहिं भाई ।

पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।”

तुलसी के लिए लोक मानस से बढ़कर न कोई धर्म है न जाति और न ही सम्प्रदाय। सेवा धर्म के सम्मुख तुलसी ने मोक्ष को भी व्याज्य माना है—

‘सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्याग,

‘सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं ।

तिन्ह कह राम भजति निज देहीं ।।”

आदि उक्तियाँ मानस में यथास्थान प्राप्त होती हैं। तुलसी ने कभी भी भक्ति, साधना, प्रेम आदि भावों से इतर मानव शरीर की कल्पना भी नहीं की। उनकी प्राक्कल्पना में मनुष्य सभी धर्मों, वर्णों और जातियों से ऊपर है। उन्होंने मानवता को सभी धर्मों का मूल उपादेय सिद्ध किया इसके अलावा वर्णाश्रम पद्धति आदि का उल्लेख भी प्रसंगवश सामाजिक सरोकारों के संदर्भों के निमित्त किया। तुलसी की यह पंक्ति सामान्यतः समीक्षकों की दृष्टि में उन्हें

●●● वीथिका ●●●

अहंवादी एवं संकुचित दृष्टिकोण वाला सिद्ध करने में लगी रहती है—

“ढोल गँवार शूद्र पशु नारी!

सकल ताड़ना के अधिकारी।।”

जबकि किसी भी रूप में तुलसी की यह पंक्ति वर्णाश्रम पद्धति या स्त्रीवादी संकुचित दृष्टि की ओर नहीं इंगित करती बल्कि शब्द विशेष के संदर्भ में यदि समझने का प्रयत्न करें तो ‘ताड़ना’ शब्द ठेठ अवधी का शब्द है जहां इसका अभिप्राय ‘देख-रेख’ करने से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कई पंक्तियों में शब्द भ्रांति को लेकर समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से अर्थ को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

भावनाओं के साथ-साथ आज व्यक्ति का महत्त्व बढ़ा है लोकतंत्र में व्यक्ति की सत्ता सर्वोपरि है—वह व्यक्तिवाद की सीमा तक पहुँच गया है। गोस्वामी जी ने व्यक्ति की महिमा का ज्ञान अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व किया था, जो युगीन सत्य है। तुलसी ने बार-बार लोकमंगल की बात कही है—

“मंगल करनि कलिमल हरनि

तुलसी कथा रघुनाथ की।”

लोकमंगल का यह रूप लोक के प्रति समर्पित होते हुए भी लोक के मातहत नहीं है। आधुनिकतम मनोविश्लेषक और काव्यशास्त्र के अध्येता यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य आदि विशेष के और व्यक्तिपरक बोध पर आश्रित है साहित्य, संस्कृति, शिक्षा, धर्म आदि की अपील समूह से नहीं, व्यक्ति से की जाती है।

जिन युगीन संदर्भों में तुलसी ने राम राज्य की संकल्पना की थी उसी साम्यवाद का नारा आधुनिक समय में लोकतंत्र की पुकार बन गया है। तुलसी ने आदर्श कल्याणकारी राज्य की जो रूपरेखा प्रस्तुत की उसकी अगुआई आधुनिक भारत के शीर्षस्थ नेताओं ने की और उसी संकल्पना के आधार पर गाँधी जी ने भारत देश को रामराज्य बनाने पर बहुत अधिक बल दिया और ऐसे आदर्श रामराज्य की स्थापना से भला किसे विरोध हो सकता है—

‘बयरू न कर काहु सन कोई ।

राम प्रताप विषमता खोई ॥

बरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग ।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा ।

राम राज्य काहुहि नहिं व्यापा ॥”

x x x x

“अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा ।

सब सुन्दर सब विरुज सरीरा ॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।

नहिं कोउ अबुध लच्छन हीना ॥

सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी ॥

सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥”

संभव है कि तुलसी ने ‘राम’ को एक व्यक्ति से ऊपर एक संस्था, एक विचार के रूप में व्यक्त किया यह ‘राम’ रूपी विचार बहुत कुछ प्रगतिशील काव्यधारा की स्थापना में अग्रणी मार्क्सवाद एवं जनवाद जैसा ही रहा है । तुलसी लिखते हैं –

“नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं ।”

भीलनी शबरी के द्वार पर श्री राम का गमन, उसके द्वारा झूठे कर दिये गये बेरों को प्रेम सहित ग्रहण करना, शबरी का उत्साह और प्रेम देखते ही बनता है, वह श्रीराम को देखकर अवाक् और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कह उठती है—

“केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी ।”

आज भी भील, कोल, थारू, बिरसा, मुंडा आदि जनजातियाँ समाज की मुख्य धारा से जुड़ने के लिए निरंतर संघर्ष कर रही हैं और आधुनिक साहित्य की जनवादी चेतना इन्हीं हाशिए पर पड़े, दबे-कुचले दलितों की

●●● वीथिका ●●●

उपेक्षा को साहित्य का मुख्य उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत कर रही हैं। आधुनिक कवियों में निराला, दिनकर, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि की काव्य पंक्तियाँ बेबाक रूप में अपनी वाणी को समाज के मुख्य हिस्से से जोड़ने का प्रयास करती हैं, नागार्जुन स्पष्ट कहते हैं—

“जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊँ?

जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा क्यों हकलाऊँ?”

श्री राम के वनगमन के समय निषाद राज से मिलना, उन्हें ससम्मान गले लगाना, उनसे प्रेम पूर्वक मिलकर कुशलक्षेम पूछना ये सभी बातें कहीं न कहीं मानवतावादी दृष्टिकोण की परिचायक हैं। तुलसी ने तो निषाद को राम का सखा बताया है, रघुनाथ उन्हें अपने बराबर स्थान देते हैं और पूछते हैं—

“सहज सनेह बिबस रघुराई।

पूँछी कुसल निकट बैठाई।।”

भरत जैसे ही यह समाचार सुनते हैं कि श्रीराम निषादराज से मिल चुके हैं तो वह अपने रथ से शीघ्र ही उतर कर उन्हें अपने हृदय से लगा लेते हैं।

“करत दण्डवत् देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।”

तुलसी का जनवाद जाति, सम्प्रदाय आदि के नाम पर आरक्षण और विशेषाधिकारों की व्यवस्था भले न करता हो किन्तु व्यक्ति को उसके गुणों और उपलब्धियों से पहचानने की मान्यता देने वाला जनवाद यहां अवश्य है—

“कह रघुपति सुनु भाभिन बाता।

मानहुँ एक भगति कर नाता।।

जाति—पाँति कुल धर्म बड़ाई।

धन—बल परिजन गुन चतुराई।।

भगतिहीन नर सोहइ ऐसा।

बिनु जल बारिद देखिय जैसा।।”

रामकथा में अयोध्या नरेश दशरथ एवं लंकाधिपति रावण के माध्यम से सामंती व्यवस्था को पूरे आयाम में प्रस्तुत किया गया है, उसके अर्न्तगत भारत के मध्य युग के लोक जीवन अथवा जन-जीवन की सच्ची मार्मिक गाथा की धारा भी समान्तर बहती है।

‘कवितावली’ में वे तत्कालीन युग की विसंगतियों का चित्रण करते हुए कहते हैं—

“खेती न किसान को भिखारी को न भीख भली,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहँ एक एकन सो कहाँ जाइ का करी।।”

तुलसी ने तीन ऐसे कार्य किए जिनके कारण वह युग द्रष्टा, युग सृष्टा कवि के रूप में तो जाने ही जाएंगे, बल्कि वे अजर-अमर भी बने रहेंगे यथा आदर्श गार्हस्थ काव्य का सृजन करके आदर्श सनातन सामाजिक भूमिका का निर्माण, जाति-वर्ण निरपेक्ष आस्तिक मानववाद की अभिव्यक्ति तथा रामचरितमानस के माध्यम से भक्ति का प्रशिक्षण करना और समूह मन एवं व्यक्ति मन को कुंठारहित और निरुज करना।

मानस में वर्णित शासनतंत्र अपने युग की परम्परा के अनुसार राजतंत्र कोटि का है जिसमें राज्य वंशानुगत होता है, परन्तु तुलसी का राजतंत्र निरंकुश राजतंत्र नहीं है उस पर जनमत का अंकुश सदैव रहता है यह सर्वोपरि है राजा दशरथ अपने ज्येष्ठ, योग्यतम पुत्र राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहते हैं और ऐसा करने का उन्हें अधिकार भी प्राप्त है, परन्तु इसके लिए लोकमत की स्वीकृति आवश्यक है—

“जो पाँचे मत लागै नीका।
करहु हरषि हिय रामहि टीका।।”

अतः तुलसी के शासनतंत्र में ‘टाल्स्टॉय’ और गांधी के Trusteeship सिद्धान्त की पूर्वपीठिका व्याप्त है—

●●● वीथिका ●●●

“मुखिया मुख सों चाहिए खान पान को एक ।

पालै पोसै सकल अँग तुलसी सहित विवेक ।।”

तुलसी का काव्य सच्चे अर्थों में मानव जीवन की गाथा है उसमें मानव जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता और विराटता के साथ अंकित हुआ है उसका मुख्य सन्देश है— लोक—उद्धारक राम बनो, लोक—शोषक उत्पीड़क रावण को मारो तुलसी काव्य के प्रति श्रद्धा या अनुराग का अर्थ, धर्म या इतिहास की अंधभक्ति नहीं है, अपितु मानव के प्रति अटूट अनुराग और आस्था का प्रतीक है। तुलसी के मानस की भूमिका किसी भी सामाजिक—राजनीतिक व्यवस्था में परिवार और गार्हस्थ जीवन के सन्दर्भ में सदैव मूल्यवान रहेगी।

अन्त में कहा जा सकता है कि तुलसी जो व्यवस्था देना चाहते हैं उसमें साधुमत, लोकमत, नृपनय तथा वेद ज्ञान का सम्यक सामंजस्य है।

“भरत विनय सादर सुनिय करिय विचारू बहोरि ।

करब साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि ।।”

साधु मतानुसार लोकमत का सृजन हो, उसी परिप्रेक्ष्य में राजनीति के स्वरूप का निर्धारण—संविधान का पालन करते हुए होना चाहिए निश्चित रूप से तुलसी का मानस और उनकी प्रासंगिकता ही उनके सन्देश को सत्यम्—शिवम् तथा सुन्दरम् बनाती है।

सहायक संदर्भ सूची —

मौलिक ग्रंथ —

1. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड : गोस्वामी तुलसीदास
2. कवितावली : गोस्वामी तुलसीदास
3. विनयपत्रिका : गोस्वामी तुलसीदास

अन्य संदर्भ —

1. तुलसी की साहित्य साधना : डॉ० लल्लन राय, वाणी प्रकाशन, पृ०सं०-122
2. तुलसीदास एवं उनका युग : डॉ० राजपति दीक्षित, ज्ञान मण्डल लिमिटेड

वाराणसी-पृ0सं0-59

3. जन-जन के कवि तुलसीदास : योगेन्द्र प्रताप सिंह, वाणी प्रकाशन-
पृ0सं0-79
4. विश्व कवि तुलसी और उनका काव्य : रामप्रसाद मिश्र, सुमितप्रकाशन-
पृ0सं0-119
5. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, पृ0सं0-140
6. लोकवादी तुलसीदास : विश्वनाथ त्रिपाठी, अभिव्यक्ति प्रकाशन-
पृ0सं0-72
7. गोसांई तुलसीदास : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन-
पृ0सं0-81
8. तुलसी आधुनिक वातायन से : रमेश कुंतल मेघ- लोकभारती प्रकाशन-
पृ0सं0-92
9. तुलसीदास : उदयभानु सिंह, वाणी प्रकाशन- पृ0सं0-91
10. रामकथा और तुलसी : कामिक बुल्के, प्रभात पब्लिकेशन्स- पृ0सं0-05

वैश्वीकरण तथा अध्यापक शिक्षा

प्रियंका सिंह*

मानव सभ्यता के तीव्र विकास के साथ-साथ वर्तमान समय में विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न देशों को परस्पर निर्भर बना दिया है। वैश्वीकरण (अर्थात् ग्लोबलाइजेशन) स्वयं की अर्थव्यवस्था, संस्कृति, समुदाय आदि को विश्व समुदाय के लिए खोलना अथवा विश्व के अन्य देशों के साथ जोड़ना है। वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा संसार की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं व समाज का समन्वय किया जाता है जिससे वस्तुओं व सेवाओं, सूचना प्रौद्योगिकी, पूंजी निवेश, शिक्षा, सांस्कृतिक आदान-प्रदान आदि का इनके बीच आपसी प्रवाह हो सके। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में विकास एवं प्रतिस्पर्धा साथ-साथ चलती है। आज हम देखते हैं कि शिक्षा का भी वैश्वीकरण हुआ है। राष्ट्र विकास की प्रक्रिया में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। शिक्षा को हम सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक रूपांतरण का साधन भी मानते हैं। समाज बदलता रहता है और आने वाला युग शिक्षा के द्वारा ही बदलता है। हम जैसी शिक्षा देंगे, वैसा ही मनुष्य बनेगा और मनुष्य के विकास से राष्ट्र का विकास होता है। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा का संबंध राष्ट्र के जीवन, आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं से हो, वैश्विक स्तर पर हमारे मानक हों एवं जनशक्ति की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा के समान अवसर प्रदान किए जाएं।

आज हमारे देश को तीव्र गतिशील एवं परिवर्तनशील भौतिक, आर्थिक व सामाजिक पर्यावरण के साथ प्रभावी सामनजस्य बनाना आवश्यक हो गया है। देश की भावी युवा पीढ़ी को वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना करने व उसके योग्य बनने हेतु सामाजिक परिवर्तन के एक सक्रिय अभिकर्ता के रूप में शिक्षक की भूमिका एवं महत्व पहले से अधिक बढ़ गया है। शिक्षक को शिक्षण व्यवसाय एवं अपने विषय से सम्बन्धित नवीनतम जानकारियाँ,

* एम0ए0, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

विधियाँ, कौशलों, अभिवृत्तियों आदि को अद्यतन रखना होगा। प्रस्तुत प्रसंग में यह बताया गया है कि किस प्रकार वैश्वीकरण ने शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों के साथ-साथ अध्यापक शिक्षा को भी प्रभावित करता है

शब्द संक्षेप:

वैश्वीकरण, वैश्वीकरण और शिक्षा, अध्यापक शिक्षा, अध्यापक शिक्षा और वैश्वीकरण, अध्यापक शिक्षा में गुणवत्ता उन्नयन के लिए अध्ययन से प्राप्त सुझाव, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

वैश्वीकरण :

वैश्वीकरण एक घटना है जो पूरी दुनिया को प्रभावित किया गया है और इसलिए भारत की शिक्षा प्रणाली है। एक प्रमुख परिवर्तन संरचना स्वरूप और स्कूलों में अध्यापन की शैली और भारत के कालेजों में देखा जा सकता है। शिक्षकों और प्रोफेसर्स इन संस्थानों में खुद को समाज के नवीनतम शिक्षण प्रवृत्तियों के बारे में अद्यतन और नवीनतम तकनीकों और बाहरी दुनिया के साथ प्रतिस्पर्धा करने के तरीके जाने छात्रों बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। वैश्वीकरण के शिक्षा के क्षेत्र में भी छात्रों के बीच प्रतिस्पर्धा में वृद्धि करने के लिए नेतृत्व किया है। देश में विदेशी छात्रों के प्रवेश के साथ यह अधिक छात्रों को उनके कौशल अक्सर अद्यतन और अपने ज्ञान के साथ दुनिया को हरा के लिए महत्वपूर्ण बन गया है।

भूमण्डलीकरण को परिभाषित करते हुए, आर. **राबर्टसन (1992)** ने कहा, वैश्वीकरण को विश्व के संपीड़न एवं चेतना की गहनता के रूप में संदर्भित किया जा सकता है। **वाटर्स (1995)** में माना की वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसने सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों के बीच की भौतिक दूरी का कम किया है। **इण्डा और रोलाल्डो के अनुसार** भूमण्डलीकरण एक जटिल प्रक्रिया है इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के माध्यम से विश्व अत्याधिक अन्तर्सम्बन्धित हो रहा है। भूमण्डलीकरण का अभियान पूँजीवाद को राष्ट्रीय दायरों से परे ले जाने की अभिलाषा की अभिव्यक्ति है। **टायनबी मानते हैं**, भूमण्डलीकरण में विकसित

●●● वीथिका ●●●

व विकासशील देश मिलकर अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं को एकीकृत करने की चेष्टा करते हैं। इसने एक परिदृश्य की कल्पना की है जिसमें एक देश स्वयं का शेष विश्व के साथ मुक्त भाव से जोड़ने का प्रयास करता है।

वैश्वीकरण के प्रभुत्व कारक है—

1. फाइबर ऑप्टिक्स, उपग्रह और कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी के माध्यम से वैश्विक संचार बढ़ाने से।
2. एकीकृत और समन्वित उत्पाद डिजाइन, उत्पादन, बिक्री, बहुराष्ट्रीय संगठन।
3. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मुक्त व्यापार समझौतों की संख्या बढ़ाने से
4. व्यापार, वित्त, काम, उत्पाद के लिए नियमों और मानकों की उन्नति।
5. कई देशों में विदेशी निवेश की संख्या बढ़ाने और प्रभाव में वृद्धि कार्यकर्ताओं पर विदेशी नियन्त्रण।

वैश्वीकरण और शिक्षा :

वैश्वीकरण एक घटना है जो पूरी दुनिया को प्रभावित किया गया है और इसलिए भारत की शिक्षा प्रणाली है। एक प्रमुख परिवर्तन संरचना स्वरूप और स्कूलों में अध्यापन की शैली और भारत के कालेजों में देखा जा सकता है। शिक्षकों और प्रोफेसर्स इन संस्थानों में खुद को समाज के नवीनतम शिक्षण प्रवृत्तियों के बारे में अद्यतन और नवीनतम तकनीकों और बाहरी दुनिया के साथ प्रतिस्पर्धा करने के तरीके जाने छात्रों बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। वैश्वीकरण के शिक्षा के क्षेत्र में भी छात्रों के बीच प्रतिस्पर्धा में वृद्धि करने के लिए नेतृत्व किया है। देश में विदेशी छात्रों के प्रवेश के साथ यह अधिक छात्रों को उनके कौशल अक्सर अद्यतन और अपने ज्ञान के साथ दुनिया को हरा के लिए महत्वपूर्ण बन गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में उदारीकरण, निजीकरण, तथा भूमण्डलीकरण की अवधारणाएँ नए वैश्विक नारों के रूप में बनकर उभरी हैं। यह तथ्य सर्वविदित हैं कि आर्थिक, सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह

करने के कारण शिक्षा सभी स्तरों पर अत्याधिक महत्वपूर्ण है और दूसरी तरफ वैश्वीकरण तकनीकी और त्वरित उत्पादकता को बढ़ाने तथा तेज विकास को सुनिश्चित करता है। इस प्रकार यह बात साफ तौर स्पष्ट है कि शिक्षा पर वैश्वीकरण का प्रभावशाली प्रभाव है। ज्ञान आधारित समाज तथा अर्थव्यवस्था के कारण वर्तमान में शिक्षा में नए ही तरह के दबाव महसूस किए जा रहे हैं। अब शिक्षा को विद्यार्थियों को ऐसे कार्य बाजार के लिए तैयार करना है जिसमें उसे अनेक बार कार्य क्षेत्र बदलने की उपेक्षा की जा सकें। शैक्षणिक मुद्दों के साथ वैश्वीकरण सौदों के बारे में बातचीत का एक अन्य प्रकार है जिसमें शिक्षण के साथ ही सीखने की प्रक्रिया शामिल है। मुद्दों की वैश्विक प्रकृति की समझ के साथ छात्रों के ज्ञान प्रदान करना जैसे— स्वास्थ्य और पर्यावरण के अन्य संस्कृतियों, भाषाओं व इतिहास का ज्ञान साथ ही अलग-अलग संस्कृतियों के माहौल में कार्य करने को तैयार करना। शिक्षण और छात्र गतिशीलता, संकाय विकास पुरस्कार या शिक्षण और अनुसंधान के क्षेत्र में अन्य देशों के साथ सहयोग। इण्टरनेट से अब दूरी का सवाल समाप्त हो गया है। उच्च शिक्षा के सन्दर्भ में, वैश्वीकरण के कई अर्थ हैं। वैश्विक शब्द शामिल करने का अर्थ है विश्व स्तर पर सक्षम स्नातकों का तैयार करना जबकि कुछ के लिए इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीयकरण हैं, राष्ट्रीयता के सीमाओं के पार जाना। निम्नलिखित सबूत हैं, जो शैक्षिक क्षेत्र में वैश्वीकरण को बताने हैं –

1. अध्ययन के लिए विदेश जाने वाले छात्रों की संख्या का बढ़ना।
2. संकाय और शोधकर्ताओं के बीच आदान-प्रदान कार्यक्रम।
3. शाखा परिसरों में वृद्धि।
4. अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक पाठ्यक्रम में बदलाव।

वैश्वीकरण के सन्दर्भ में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यदि आज भारत विश्व में तेजी से आगे बढ़ रहा है तो उसका एक कारण यह भी है कि हम दूसरे देशों से उन्हीं की भाषा में संवाद कर सकते हैं। विदेशों में विशेषकर अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा आदि विदेशी भाषा भाषी देशों में

●●● वीथिका ●●●

भारतीयों को विदेशी भाषा के ज्ञान का लाभ अवश्य मिला है। भारतीयों को इन देशों में उच्च शिक्षा में प्रवेश, तकनीकी संस्थानों में नौकरियाँ आदि मिलने में भाषा का माध्यम सहायक हुआ है। भारत में वैश्वीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण छात्र ज्ञान की खोज में अनेक नवीन शिक्षण विधियों एवं प्रयोगों का सहारा ले रहे हैं। अभिक्रमित अनुदेशन, कम्प्यूटरीकृत अनुदेशन, इन्टरनेट आदि अनेक नवीन विधियाँ छात्र के लिए प्रस्तुत हैं। इन्टरनेट के माध्यम से छात्र विभिन्न पुस्तकालयों व अनेक पुस्तकों से स्वयं ही पढ़ सकते हैं। दूरस्थ शिक्षा व उसकी सहायक अध्ययन सामग्री भी छात्र को ज्ञान प्राप्ति में सहायता देती है। इस प्रकार छात्र स्वयं ज्ञान की खोज करता है तथा एकीकरण व अपने अनुभवों व क्रियाओं द्वारा सीखता है जो कि शिक्षा में वैश्वीकरण की आवश्यक शर्त है। इस प्रकार भारत में शिक्षा पर वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण अनेक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें पाठ्यक्रम का नवीनीकरण, विषय विशेषज्ञों का आदान-प्रदान, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों का आपस में सहयोग, मीडिया व सूचना प्रौद्योगिकी का बेहतर प्रयोग, ज्ञान का नवीनीकरण, नये के साथ पुराने का समन्वय करके समस्या का समाधान प्रस्तुत करना आदि प्रमुख हैं। भूमण्डलीयकरण के फलस्वरूप देशों की उच्च शिक्षा में परिवर्तन आ गया है अब शिक्षा अभिजात्य वर्ग से आम व्यक्ति के स्तर तक पहुँच चुकी है, अर्थात् उसका स्तर सार्वभौमिक रूप ले चुकी है। इसके परिणामस्वरूप उच्च शिक्षा की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। देश से बाहर शिक्षा प्राप्त करने की प्रवृत्ति विकसित हो चुकी है। वर्तमान में उच्च शिक्षा की इस माँग को पूरा करने हेतु निजी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हुई है। इन उच्च शिक्षा संस्थाओं में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा प्रदान की जा रही है। साथ ही नवीन प्रकार के सूचना व सम्प्रेषण तकनीकों के प्रयोग के कारण शिक्षा, प्रणाली में राष्ट्रीय सीमा का बधन समाप्त हो गया है। जिसके परिणामस्वरूप गुणवत्ता सुनिश्चय, ग्राहक सुरक्षा, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, सांस्कृतिक अनुरक्षण आदि जैसे तथ्य उभर कर आये।

अध्यापक शिक्षा:

हम जानते हैं कि शिक्षा एक व्यापक प्रक्रिया है जिसे किसी कौशल या कार्य के निष्पादन तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति में निहित आन्तरिक क्षमताओं का विकास समग्र रूप से करने के साथ ही वैयक्तिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि या सन्दर्भ में उपयोगी तथा संसाधन सम्पन्न व्यक्तित्व के निर्माण के लिए प्रयत्न किया जाता है। मात्र शिक्षा के माध्यम से ही ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण कर पाना सम्भव है जो वातावरण एवं मूल्यों के संरक्षण के साथ ही अनुकूल परिवेश के निर्माण में भी सहायक सिद्ध हो सकता है। व्यक्ति में मानवता बोध एवं सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है, प्रशिक्षण या अन्य सम्प्रेषण व्यवहार के माध्यम से नहीं।

अतः इस व्यापक सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अध्यापक शिक्षा वह शैक्षिक आयोजन है जिसमें विभिन्न स्तरीय एवं वर्गीय अध्यापकों को इस तरह से शिक्षित करने के लिए प्रयत्न किया जाता है कि अग्रिम प्रजन्म को ज्ञान एवं मूल्यों के हस्तान्तरण के साथ ही उनके समस्त शैक्षिक एवं विकासात्मक दायित्वों को ग्रहण एवं वहन करने में वे सक्षम हो सकें तथा उनमें तकनीकी कुशलता, वैज्ञानिक चेतना, संसाधन सम्पन्नता तथा नवाचारिकता के साथ सांस्कृतिक उद्दीपना एवं मानवता वैध का समन्वयात्मक विकास करना सम्भव हो सकें। शिक्षण को एक प्रोफेशन के रूप में स्वीकार करने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि अध्यापक शिक्षा वह आयोजन हो जिसमें इस उद्यमगत नीति बोध एवं संवेगात्मक पक्ष में भी दक्षता प्रदान करने की व्यवस्था हो इस हेतु सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं समस्त चारित्रिक मर्यादाओं के साथ ही राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक मूल्यों को विकसित करने के लिए सफल प्रयास करना इस आयोजन का लक्ष्य होगा।

इस प्रकार अध्यापक शिक्षा मात्र एक कार्यक्रम ही नहीं है बल्कि एक ऐसा मिशन या आयोजन है जिसके माध्यम से राष्ट्रीय सन्दर्भ में आधुनिक एवं परिवर्तित अध्यापकीय भूमिका के निर्वहन के लिए दक्षता तथा कुशलता प्राप्ति

●●● वीथिका ●●●

हेतु व्यक्तियों को शिक्षित किया जा सके। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अध्यापक शिक्षा, अध्यापकों के लिए शिक्षा आयोजन है।

अध्यापक शिक्षा और वैश्वीकरण :

शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण घटक हैं – अध्यापक, छात्र व पाठ्यक्रम। इस तरह राष्ट्र निर्माण में अध्यापक की भूमिका स्वतः ही महत्वपूर्ण बन जाती है। बदलते हुए राष्ट्रीय परिदृश्य के संदर्भ में आज शिक्षक-शिक्षा की मुख्य चिंताएं— उसकी गुणवत्ता, समुचित ज्ञानाधार का सृजन और उत्तरदायित्व की वृद्धि है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 ने माना है कि शिक्षा की गुणवत्ता और राष्ट्रीय विकास में इसके योगदान को निर्धारित करने वाले कारकों में निःसंदेह शिक्षकों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षण में सूचना व संप्रेषण साधनों का प्रयोग, इंटरनेट क्रांति, बच्चों पर पढ़ाई का मानसिक दबाव, अध्यापक शिक्षा का निजीकरण, शांति की शिक्षा कुछ इसी तरह के अन्य सवालों ने आज भारत में अध्यापक शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान देने के लिए दबाव डाला है।

भारत में शिक्षक-शिक्षा के विकास की प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अलग-अलग रूपों और संरचनाओं के द्वारा यह न सिर्फ सतत विकास की ओर अग्रसर होती रही, बल्कि बदलते समय के साथ इसने अपने आपको ढालने की कोशिश भी की है। भारत में शिक्षण के क्षेत्र की बढ़ती हुई आवश्यकता, शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रम से प्राप्त अनुभव और तत्संबंधी जरूरतों का आधार, इन सभी ने मिलकर शिक्षक-शिक्षा की पद्धति, स्वरूप, विषय वस्तु और संरचना को प्रभावी ढंग से संचालित करने वाले मुद्दों पर विचार करने की आवश्यकता को और पैना कर दिया है। भारत के संविधान में एक ऐसे न्यायपूर्ण, समानता और भाईचारे की भावना से युक्त समाज की परिकल्पना की गई है, जिसमें व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता और अखंडता के प्रति आश्वस्त हुआ जा सके। आज विश्व में घटी किसी भी घटना का हर व्यक्ति पर प्रभाव नजर आता है। आज मानव एक वैश्विक मानव बन गया है। शिक्षा के उद्देश्य राष्ट्रीय उद्देश्यों के साथ वैश्विक संदर्भ को भी

ध्यान में रखकर बनाने चाहिए। आज सूचना तकनीकी व संप्रेषण साधनों से ज्ञान का विस्तार चारों ओर हो गया है। भारत में शिक्षक-शिक्षा में आजादी के बाद कोई बड़ा परिवर्तन नजर नहीं आता है। आज शिक्षक-शिक्षा अपने पुराने परिपाटी नियमों पर नहीं चल सकती है। आज विश्व में आतंकवाद की समस्या चारों ओर घेर कर गई है। पर्यावरण प्रदूषण, आर्थिक असमानता, अमीरी-गरीबी का बढ़ता दायरा, आर्थिक असंतोष, ग्लोबल वार्मिंग, शहरीकरण की बढ़ती समस्याएं, संबंध सांप्रदायिकता के बदलते स्वरूप, बढ़ती जनसंख्या इत्यादि ऐसी समस्याएं हैं जिनका स्वरूप वैश्विक है। अध्यापक शिक्षा केवल राष्ट्रीय समस्याओं को ही नहीं बल्कि वैश्विक समस्याओं को भी ध्यान में रखकर अपने उद्देश्य निर्धारित करे तो विद्यार्थी की एक वैश्विक संचेतना बन सकेगी। समय के साथ शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले विकास के कारण और विश्व समाज में हो रहे बदलाव का शिक्षक-शिक्षा पर भारत में गहरा प्रभाव पड़ रहा है। शिक्षक की भूमिका व उसकी अपेक्षाओं तथा शिक्षा में आये बदलाव के मद्देनजर शिक्षक-शिक्षा की प्रासंगिकता बढ़ गई है।

आज विश्व में शिक्षा व शिक्षक-शिक्षा के क्षेत्र में हुए बदलावों और दूसरी तरफ सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र के दबावों से इसके स्वरूप में परिवर्तन जरूरी है। इंटरनेट क्रांति व कंप्यूटरीकरण से शिक्षण में तीव्र परिवर्तन आ रहे हैं। शिक्षण के तरीकों में सूचना व संप्रेषण तकनीकी से बदलाव आया है। आज किसी भी देश के विकास में सूचना तकनीकी का अहम स्थान है इसलिए अध्यापक शिक्षा को भी अपने आपको बदलते सांचे में ढालना होगा। आज शिक्षा को वैश्विक संदर्भ में केवल ज्ञान प्रदान करने या केवल गढ़ी-गढ़ाई वस्तु उत्पन्न कर देने से संबंधित नहीं माना जाता बल्कि उसे जिज्ञासा उत्पन्न करने, उचित रुचि, प्रवृत्तियों और मूल्यों को विकसित करने तथा स्वतंत्र अध्ययन एवं चिंतन करने के लिए आवश्यक कौशल निर्मित करने एवं स्वयं निर्णय लेने से संबंधित माना जाता है। अध्यापक शिक्षा को इस पूरे संदर्भ को ध्यान में रखकर शिक्षण प्रक्रिया अपनानी जरूरी है।

अध्यापक शिक्षा में गुणवत्ता उन्नयन के लिए अध्ययन से प्राप्त सुझाव :

1. अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में अभ्यर्थी के चयन के संबंध में सही मानदंड बनाने चाहिए। उन्हीं अभ्यर्थियों का चयन हो जो वास्तव में शिक्षण-योग्यता रखते हों, अपने विषय का पूर्ण ज्ञान एवं शिक्षण व्यवसाय के प्रति सकारात्मक व प्रभावी दृष्टिकोण रखते हों। चयन में शिक्षण अभिक्षमता, विषय की समझ, बच्चे की समझ, समस्याओं पर दृष्टिकोण, बुद्धि मापन परीक्षा, अभिवृत्ति, अभिरुचि, भाषा संबंधी प्रवीणता, अनुक्रियात्मकता की जांच-परीक्षण किया जाना चाहिए। चयन के मानदंड प्राथमिक शिक्षक, माध्यमिक शिक्षक, उच्च माध्यमिक शिक्षक, विशिष्ट शिक्षक, विषय के शिक्षक इत्यादि के आधार पर हो।
2. वर्तमान में शिक्षा की पद्धति व उसकी प्रक्रिया में बहुत त्वरित परिवर्तन हो रहा है। वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार भविष्य आधारित पाठ्यक्रम व पाठ्यचर्या होनी चाहिए। नई समस्याएं, चुनौतियां और सही दृष्टिकोण को तुरंत पाठ्यचर्या में शामिल करने के प्रावधान होने चाहिए। स्कूल पाठ्यचर्या में परिवर्तन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कुछ अधिगम क्षेत्रों को अध्यापक-शिक्षा में शामिल करना पड़ेगा जो कि सूचना संप्रेषण तकनीकी के नये विकास, हाल ही की स्वास्थ्य समस्याएं, उर्जा और वातावरण, मानव अधिकार शिक्षा, आपदा प्रबंधन, शांति की शिक्षा, आतंकवाद की समस्या, भारतीय संविधान की मूलभूत शिक्षा हो सकते हैं। सेवापूर्व शिक्षा की पाठ्यचर्या में उदीयमान भारत में शिक्षा, शैक्षिक मनोविज्ञान, सक्षम मूल्यांकन व प्रबंध, कक्षा-प्रबंध, शिक्षण प्रवृत्ति व विधि इत्यादि विषयों में भी इसे हम शामिल कर सकते हैं। विशेष क्षेत्रों के विषय, परामर्श व निर्देशन, कंप्यूटर शिक्षा, शैक्षिक तकनीकी और स्वास्थ्य शिक्षा इत्यादि में भी हम समसामयिक

आवश्यकताओं को शामिल कर सकते हैं। स्कूल की समस्याओं व शिक्षक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में संबंध होना जरूरी है। इसलिए बड़े अंतराल के बाद शिक्षक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में परिवर्तन नहीं हो, बल्कि समय-समय पर इसे अद्यतन बनाना चाहिए।

3. शिक्षक शिक्षा में प्रयोगात्मक और सैद्धांतिक विषयों का मेलजोल होना चाहिए। सैद्धांतिक विषय प्रयोगात्मक कार्यों के अनुसार हो और प्रयोगात्मक कार्य सैद्धांतिक विषयों के अनुसार होने चाहिए। दोनों एक-दूसरे का अनुवर्तन करें। प्रयोगात्मक कार्य स्कूली अनुभव, स्कूल की प्रशासनिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, क्षेत्रीय, अधिगमकर्ता की विशिष्टताएं व समस्याओं, विषय की जटिलता, अधिगम सिद्धांतों का प्रयोग, श्रव्य-दृश्य सामग्री का स्कूल में प्रयोग, सूचना-तकनीकी का स्कूली वातावरण में इस्तेमाल इत्यादि पर होने चाहिए। प्रयोगात्मक कार्यों में स्कूली जीवन का वास्तविक आईना दिखना चाहिए। सैद्धांतिक पाठ्यक्रमों को भी स्कूली जीवन के अनुभव के आधार पर बनाना चाहिए। दत्त कार्यों का समय पर मूल्यांकन करके सुझाव छात्रा-अध्यापकों को देने चाहिए।
4. अध्यापक शिक्षा कार्यों में मूल्यांकन के लिए नवाचारी ढंगों को अपनाना जरूरी है। मूल्यांकन क्षमता व दक्षता आधारित होना चाहिए। आंतरिक मूल्यांकन के लिए विषयक प्रस्तुतीकरण, दत्त कार्य, कक्षा में विचार-विमर्श में सहभागिता, सप्ताह या माहवार संक्षिप्त परीक्षा, सांस्कृतिक कार्यों में सहभागिता, शिक्षण छात्राध्यापकों द्वारा नवाचारी ढंगों का प्रयोग, शैक्षिक भ्रमण, अध्यापक व्यक्तित्व विकास इत्यादि के द्वारा कर सकते हैं। सत्रांत परीक्षा में प्रश्न-पत्रों का आधार स्कूली जीवन के आधार पर होना चाहिए, जिसमें विद्यार्थी अपना दृष्टिकोण रख सकें। अध्यापक-शिक्षा में मूल्यांकन एक लगातार प्रक्रिया की तरह हो, लेकिन वह बिल्कुल पारदर्शी होनी चाहिए।

5. अध्यापक शिक्षा के निजीकरण से इस अनुशासन का बहुत ज्यादा स्तर गिरा है। निजी संस्थान व्यावसायिक लाभ के हिसाब से शिक्षा उपलब्ध करवाते हैं। इसलिए NCTE व शिक्षा प्राधिकार संस्थाओं को स्ववित्त पोषित संस्थाओं की गुणवत्ता पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा पाया गया है कि अपने निजी मकान में भी बी.एड. संस्थान चल रहे हैं, जो कि सोचनीय है।
6. स्ववित्त पोषित संस्थानों में प्रायोगिक कक्ष, मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला, खेल का मैदान, कार्यानुभव कक्ष, अभ्यास शिक्षण की स्कूलों में व्यवस्था, दृश्य-श्रव्य सामग्री, अच्छी पुस्तकें व संदर्भ ग्रंथों का पुस्तकालय, शिक्षण विधियों के कक्ष इत्यादि उपलब्ध हो शिक्षक-शिक्षा के मानक व मानदंडों पर तभी इन्हें मान्यता देनी चाहिए। स्ववित्त पोषित संस्थानों में अध्यापक प्रशिक्षकों को उचित वेतनमान भी नहीं मिलता है। अध्यापक नियुक्ति के तरह-तरह के हथकंडे अपनाये जाते हैं। इसलिए अध्यापक शिक्षक-शिक्षा संस्थानों में हमेशा मानसिक दबाव में रहता है। यह जरूरी हो जाता है कि उचित प्राधिकार सत्ता इन संस्थानों में नियुक्ति के मानदंडों व अध्यापकों की योग्यता पर पैनी नज़र रखे। निजी संस्थानों में समय पर परीक्षा, दाखिला, शिक्षण और प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए जरूरी तय समय में होना चाहिए। छात्र-अध्यापकों की इसमें उपस्थिति को अनिवार्य बनाना जरूरी है।
7. अध्यापक शिक्षा एक सतत प्रक्रिया बनी रहनी चाहिए। सेवापूर्व शिक्षा व सेवारत शिक्षा दोनों का आपसी संबंध रहना जरूरी है। सेवारत शिक्षा का पाठ्यक्रम स्कूली अनुभव व अध्यापकों की सुविधा व विचार-विमर्श पर बनाना चाहिए। सेवारत शिक्षा के लिए उच्च स्तर पर कोई जिम्मेदार संस्थान होना चाहिए। अभी तक तदर्थ आधार व अनियमित प्रारूप में सेवारत शिक्षा चल रही है। राज्यों की एस.सी. आर.टी., डाईट, एन.सी.ई.आर.टी., न्यूपा, शिक्षा विज्ञान इत्यादि के

कार्यक्रमों का सेवारत शिक्षा नियमित हिस्सा होना चाहिए। सेवारत शिक्षा के कार्यक्रमों का पृष्ठपोषण (फीडबैक) लेना चाहिए, इन्हें और ज्यादा उत्साहवर्द्धक व व्यावहारिक बनाया जा सके। इसके प्रशिक्षण में सैद्धांतिकता के बजाय स्कूली वातावरण की व्यावहारिक समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए। सेवारत शिक्षा में शैक्षिक तकनीकी, समसामयिक समस्याएं, शैक्षिक शोध, अध्यापक विकास इत्यादि पर ध्यान देना चाहिए। सेवारत शिक्षा के प्रशिक्षण कार्यक्रम लेक्चर विधि व्याख्यानों से भरे न होकर विचार-विमर्श पर आधारित होने चाहिए।

8. सूचना एवं संप्रेषण तकनीकी को अध्यापक शिक्षा में अंतर्निहित प्रक्रिया के तौर पर अपनाना चाहिए। तकनीकी पैडागॉजी में खासतौर पर तीन क्षेत्र हो सकते हैं – विषयवस्तु, पैडॉगॉजी और तकनीकी। कौशल विकसित करने के लिए सामान्य जानकारी छात्र अध्यापकों को दी जाए, जिसमें प्रतिदिन की जिंदगी में इसे प्रयोग कर सके। इसमें विभिन्न सॉफ्टवेयर, हार्डवेयर का शिक्षा प्रक्रिया में प्रयोग सिखाना चाहिए। छात्र-अध्यापकों के शिक्षण विषय में भी इसे अंतर्निहित किया जा सकता है, जिससे वह इसे कक्षा आधारित स्रोत बनाकर शिक्षण की विभिन्न तकनीकों में इसे प्रयोग कर सकता है। शिक्षक-शिक्षा में प्रयोगात्मक पहलुओं में भी इसे शामिल किया जा सकता है। पाठ-विकास, दत्त कार्य के निर्माण में इनको शामिल करने पर जोर दिया जा सकता है। सेवा पूर्व शिक्षक एक अधिगम कर्ता, प्रबंधक, डिजायनर और शोधकर्ता होता है इसलिए हम उससे उम्मीद कर सकते हैं कि वह अपनी गतिविधियों में इसे शामिल करे और प्रशिक्षण प्राप्त करे। अंतर्निहित पहलुओं से हम शिक्षण में कौशल विकसित कर सकते हैं।
9. अध्यापक शिक्षा में समग्र संबंधी अंतर्निहित दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसमें ज्ञान, विश्वास, खुलापन, कौशल, उत्तरदायित्व, शिल्पकारी,

ईमानदारी, समझ, स्वयं अधिगम, समूहात्मक अधिगम, नम्रता, सामाजिक सरोकार, स्वायत्तता, शारीरिक, मानसिक, आत्मीय विकास, नेतृत्व, मेहनती, लगनशील, रिस्क उठाने वाला समग्र अध्यापक शिक्षा की विशेषताएं हैं। अधिगमकर्ता और अधिगम केन्द्रित वातावरण, जीवन की परिस्थितियों द्वारा अधिगम, अधिगम की स्वतंत्रता, सामूहिक जुड़ाव, विचारों व अनुभवों का आदान-प्रदान, अनुभवों पर ज्यादा ध्यान देना, संवाद एक महत्वपूर्ण उपकरण, शिक्षण व अधिगम का अंतर्निहित दृष्टिकोण, सिद्धांत की बजाय प्रायोगिक, सर्वांगीण विकास शामिल हो।

10. शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों के पास एक आदर्श स्कूल की भी कमी है। आजादी के पहले व बाद में भी शिक्षा आयोगों व समितियों ने सुझाया है कि शिक्षक-शिक्षा संस्थानों के पास विभिन्न प्रशिक्षणों के लिए एक आदर्श स्कूल (प्रायोगिक) होना चाहिए। इसलिए शिक्षक-शिक्षा संस्थानों के लिए आदर्श स्कूल का होना बहुत जरूरी है। इससे अध्यापक-शिक्षकों का भी स्कूली अनुभव व वातावरण से निरंतर संपर्क बना रहेगा। छात्रा-अध्यापकों के लिए शिक्षण-अभ्यास व विभिन्न शैक्षिक प्रयोगों का प्रारंभिक ज्ञान इस तरह के आदर्श स्कूलों में मिल सकता है।
11. अध्यापक शिक्षकों की शिक्षा भी अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम को प्रभावित करती है। अध्यापक शिक्षकों को विद्यालयी जीवन का अनुभव सामाजिक माहौल तथा सामुदायिक आकांक्षाओं की भलीभांति जानकारी होनी चाहिए। अध्यापक शिक्षकों को शिक्षा नीति व कार्यक्रमों के निर्धारण कार्यान्वयन रणनीतियाँ तथा अनुवीक्षण कार्यक्रमों से भी संबंधित होना चाहिए। शिक्षा के वैश्विक संदर्भ को भी ध्यान में रखना चाहिए। यह भी जरूरी है कि शैक्षिक विचारों के परीक्षण, विश्लेषण, विवेचन, विस्तार तथा संप्रेषण की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए। इस तरह अध्यापक शिक्षक राष्ट्रीय

आवश्यकताओं के साथ शिक्षा, शैक्षिक अनुसंधान, संचार प्रौद्योगिकी तथा नवाचारी, पाठ्यक्रम विकास इत्यादि को भी ध्यान में रखना आज के युग में जरूरी है। अध्यापक शिक्षा संस्थाओं की विशिष्ट समस्याओं पर ध्यान देने तथा अध्यापक शिक्षा को अधिक उत्तरदायी तथा अनुक्रियात्मक बनाने की भी आवश्यकता है। इसलिए अध्यापक शिक्षकों को व्यावसायिक विकास के लिए भी प्रोत्साहित करना है।

12. शिक्षक-शिक्षा से जुड़ी उच्च प्राधिकार सत्ताओं का आपसी समन्वय होना जरूरी है। एन.सी.टी.ई., दूर शिक्षा परिषद, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद के क्षेत्रीय केन्द्र, यू.जी.सी., राज्य स्तरीय संस्थान इत्यादि के बीच समन्वय होना जरूरी है। राष्ट्रीय स्तर पर एक ऐसी नीति व प्रारूप बनाना जरूरी है, जिससे अध्यापक शिक्षा संस्थानों की गुणात्मकता व मान्यता संबंधी सही जांच व परख हो सके। प्राधिकार सत्ताओं द्वारा प्रबंधात्मक विकेन्द्रीकरण भी किया जाना चाहिए, जिससे ज़मीनी स्तर की शिक्षक-शिक्षा से जुड़ी समस्याओं का पता चल सके और इससे शिक्षक-शिक्षा में पारदर्शिता भी बढ़ेगी।
13. वर्तमान में दूरस्थ माध्यम द्वारा अध्यापक शिक्षा व्यापक स्तर पर दी जा रही है। शिक्षक शिक्षा के उद्देश्यों के मद्देनजर, प्रवेश परीक्षा, संचालनात्मक व्यवस्था, स्वयं अधिगम सामग्री, सूचना तकनीकी द्वारा उपलब्ध सामग्री व सुविधाएं, अभ्यासात्मक कार्य व दत्त कार्य बनाने चाहिए। दूरस्थ माध्यम द्वारा अच्छी शिक्षक-शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या की पुनरीक्षा, अच्छा संगठन व प्रशासन, शैक्षिक तकनीकी का प्रयोग और शिक्षण शास्त्रीय उपागमों का विकास इस संदर्भ में होना चाहिए। दूरस्थ माध्यम के विद्यार्थियों को बुनयादी सुविधाओं का ज्ञान देना जरूरी है जो कि मुखाभिमुख तौर पर होना चाहिए, जिससे दूर शिक्षा की सुविधाओं का भरपूर उपयोग विद्यार्थी कर सके। दूरस्थ माध्यम में शिक्षक कार्यक्रम में नियमित अनुशासन,

●●● वीथिका ●●●

संपर्क कक्षाएं, दत्त कार्य, अभ्यास कार्य, स्कूल के प्रायोगिक इत्यादि में आवश्यक उपस्थिति व अच्छे प्रदर्शन को सफलता का आधार बनाना चाहिए। दूरस्थ माध्यम द्वारा विद्यार्थी केवल डिग्री लेना ही अपना उद्देश्य न समझे बल्कि इसे अध्यापक शिक्षा के उद्देश्यों के आधार पर नियमित अनुशासन से इसे पूरा करें। ग्रामीण विद्यार्थियों की बाध्यताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए।

14. मूल्य शिक्षा को भी अध्यापक शिक्षा में अंतर्निहित किया जाना चाहिए। कोठारी कमीशन (1964-66) ने सुझाया है कि विद्यार्थियों में आत्मविश्वास, सृजनात्मकता की पहलों के साथ सामाजिक सेवा की इच्छा को कार्य अनुभव के द्वारा सामान्य शिक्षा में शामिल करना चाहिए। 1986 की शिक्षा नीति ने भी अध्यापकों का स्तर और उनका सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भ में सामाजिक मूल्यों के दृष्टिकोण पर ध्यान केन्द्रित किया है। छात्र अध्यापकों को दिमाग, शरीर, बुद्धि और संवेगों के समग्र विकास का अधिगम अनुभव देना जरूरी है। इसलिए छात्र अध्यापकों को भी मूल्य आधारित शिक्षा देनी चाहिए। सूचना व संप्रेषण के युग में तेज गति के समाज में रहते हुए मूल्यों पर आज ध्यान विभिन्न संदर्भों से होना जरूरी हो गया है। सार्वभौमिकता व वैश्विकता को भी ध्यान में रखकर अध्यापक शिक्षा में मूल्यों की शिक्षा को अंतर्निहित करना चाहिए।

सन्दर्भ –

1. भट्टाचार्य, जी०सी० : अध्यापक शिक्षा, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014
2. किशन, एन०आर० : ग्लोबल ट्रेन्ड इन टीचर एजुकेशन, ए०पी०एच० पब्लिशिंग कारपोरेशन, 2007
3. अग्रवाल, बी०बी० : आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्यायें, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1996
4. जौहरी, प्रिया : भारत में शिक्षा पर वैश्वीकरण का प्रभाव Pratibha

Research Journal of Humanities, प्रतिभा प्रकाशन इलाहाबाद, वर्ष 8
अंक 2, जुलाई-सितम्बर 2016

5. नन्द गौरंग चरन : मिश्रा प्रदिप्ता कुमार प्रोफेशनल डेवलपमेन्ट ऑफ टीचर्स, एजुट्रैक, वर्ष 9, अंक 6, फरवरी 2010
6. वी0एन0 वगीज : "भूमण्डलीकरण, आर्थिक संकट और उच्च शिक्षा का विकास" परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, वर्ष 17, अंक 1, दिसम्बर 2010
7. अश्वनी : अध्यापक शिक्षा का समालोचनात्मक अध्ययन, परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, वर्ष 17, अंक 2, अगस्त 2010
8. शाह क्रान्ति हिन्द स्वराज एक अध्ययन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन।
9. रंजन, प्रेमनाथ : भूमण्डलीकरण नीति और नियति।

REASONING ABILITY OF SECONDARY SCHOOL STUDENTS AS A FUNCTION OF GENDER AND TYPES OF SCHOOLS

Indrapreet Kaur*

***Abstract:** The present study attempted to investigate the reasoning ability of secondary school students in relation to 'gender' and 'types of schools'. The secondary school students studying in XI class of aided and un-aided schools of Rae bareli district constituted the population of the study. The investigation was carried out on 96 students (48 male and 48 female). The results reveal that male and female secondary school students of aided schools do not differ significantly in respect of reasoning ability; where as in case of un-aided schools this difference is found significant in favor of female students.*

Introduction

The students vary widely in their ability to learn, which is expressed in their educational attainment and otherwise. In spite of the fact that students are exposed to the same educational environment including the same learning task, classroom and the same teachers, they are found to differ in learning outcomes. One category of factors, causing differences in their learning abilities, to a great extent is related to their personal characteristics Such as intelligence, thinking and reasoning ability, motivation, interest etc. The other category pertains to the environment in which an individual grows and interact with.

Learning is measured in terms of academic achievement. Among the cognitive factors of academic achievement intelligence has attracted the maximum attention. It has been extensively used as a major factor in a number of studies on

* Assistant Professor 'Teacher Education Department' of D.B.P.G. College, Bachhrawan, Raebareli (U.P.)

learning and acquisition of concepts; intellectually superior subjects have been found to have more reasoning ability and superior academic achievement.

In the theory of Primary mental abilities, Thurston has also included the reasoning ability as the form of intelligence. In the range of cognitive variables another variable which in recent years is being increasingly recognized is the individual's ability to solve a problem. It is a well-established fact that problem solving involves the process of thinking and reasoning.

Reasoning is a process of controlled thinking as association which starts with some problems of interest to the reasoner and is directed towards its solution. It differs from ordinary imagination in that the result of reasoning are supposed to be checked against some external criteria.

Bernard:-“Reasoning is a process of delaying response until data are arranged into a new combination so that a clearly perceived goal can be reached.”

Review of Literature:

P.C. SHAH (1981) attempted a study on “construction and standardization of a verbal reasoning test for students of standard VI and VII in Saurashtra”.

The main objective of the study was to plan, construct and standardize a verbal reasoning test.

The findings of the study were:-

Sex, grade and area (rural vs. urban) differences were significant.

Standard VII students excelled standard VI students, boys excelled girls and urban children in verbal reasoning.

AMY TRAUTH-NARE, GAYLE A. BUCK & NICOLE BEEMAN CADWALLANDER (2012) found in an

investigation 'levels of reasoning among girls engaged in technology enhanced science inquiry in an urban elementary classroom.'

SEKAR P. (2013) in an attempt to find out whether there is any significant difference in the reasoning ability of biology and computer group of higher secondary students w.r.t. gender, reported that the reasoning ability of the groups under consideration differed significantly.

Research Questions:

A number of researches have been reported regarding comparing different cognitive abilities of male and female students at different levels viz. Primary, Secondary etc., in different settings i.e. Govt./ Pvt.; Aided/un-aided etc. The findings of such studies are still inconclusive and inconsistent. The investigator is of the opinion that some more researches are still required to be conducted on these variables. In pursuit of adding further insight into the matter the investigator attempted this study with the following research questions in mind.

1. Does the reasoning ability of secondary school students differ on gender basis?
2. Whether there is a difference in the reasoning ability of students studying in aided and un-aided secondary school?

Hypotheses:

1. No significant difference exists between reasoning ability of male and female students at secondary level.
2. There is no significant difference between reasoning ability of male and female students of aided and un-aided secondary school.

Sample: *The sample was drawn on randomized basis from aided and un-aided secondary schools of Raebareli district (affiliated to U.P. Board)*

Need and Importance of the study:

With the life becoming more and more complex and challenging, there is a great need for the next generation to learn how to cope up with the fast occurring changes in the surroundings. Reasoning ability is supposed to be one of the abilities which appear to facilitate in taking on the challenges of life's adversities and stressful moment with a sense of serenity. Any individual who wishes to lead a meaningful stress-free life ought to possess sufficient reasoning ability.

Now days, education is becoming completely mechanical and people are studying not for knowledge but for sake of examination. They are giving more stress on memory rather than reflective thinking. So, their mental exploration is getting hindered. Even the top rankers are unable to pass the competitive examination and lagging behind.

In order to expose the child to the ground realities the subjects that he is taught also need to be related to real life situations. To enable the child to cope up with the competitive world, it is believed that reasoning ability has a definite role to play. Keeping in mind the role and characteristics of reasoning ability, it is intended to identify the level of reasoning ability of secondary school students and suggest probable ways and means to enhance it, as the destiny of any nation is built in its classrooms. In this context it would be further interesting to find out if gender too has a role to play and does the climate of the institution also is a potent contributor?

The present research paper aimed at finding out whether male and female secondary school students of aided and un-aided schools in fact differ in respect of their reasoning ability.

Methodology:

The method adapted for this study was descriptive and

statistical in nature. The investigator used survey method for data collection. The secondary school student of 12 to 17 years of aided and un-aided secondary school students of Raebareli district constitute the population of the study. A Random sampling design was applied to target the population. The investigation was conducted on 96 students (male and female) from different schools of Raebareli district.

S.No.	Name of schools	Gender		School type	
		Male	Female	Aided	Un-aided
1	Raja Chandrachurna Singh Inter College, Maharajganj, Raebareli	12	12	24	0
2	Dr. HargogindJanta Inter College, Hardaspur,Raebareli	12	12	24	0
3	Dr. B.R.Ambedkar Inter College, BawanBujurgBalla, Raebareli	12	12	0	24
4	Modern Public Inter College,Bacchrawan, Raebareli	12	12	0	24
Total =96		48	48	48	48

Tool Used:

In the present study the researcher selected tool from National Psychological Corporation Reasoning Ability Test (RAT) by L.N. Dubey, college of Educational Psychology and Guidance, Jabalpur (M.P.)

Results and Analysis:

The Mean, S.D., Standard Error of the Mean (SEm), 't' test were the required statistics to determine and to test the hypothesis. The results are shown in the form of table-

Table -1 Comparison of Reasoning Ability of Male and Female students

Gender	N	Mean	SD	SEm	T value df =94	Significance
Male	48	41.33	23.63	4.17	1.67	Not significant at 0.05level
Female	48	48.29	16.77			

Table 1 shows that mean score of reasoning ability of male students is 41.33 and of female students is 48.29. The S.D. of the reasoning ability of male students is 23.63 and that of female students is 16.77. The t-value, 1.67 is not found significant at 0.05 level of significance. This reflects that the male and female students of secondary schools are not significantly different in respect of their reasoning ability.

Table-2 Comparison of Reasoning Ability of Male and Female students of Un-aided Secondary School

Gender	N	Mean	SD	SEm	t value df = 46	Significance
Male	24	29.67	16.44	4.48	5.74	Significant at 0.01 level
Female	24	55.38	13.82			

Table 2 shows that mean score of reasoning ability of un-aided male students is 29.67 and of female students is 55.38. The SD of the reasoning ability of un-aided male students is 16.44 and that of un-aided female students is 13.82. The t-value is 5.74 which

is significant at 0.01 level of significance. This shows that the un-aided male and female students of secondary level differ from each other in their reasoning ability.

Table-3 Comparison of Reasoning Ability of Male and Female students of aided secondary school

Gender	N	Mean	S.D.	SEm	t-value df= 46	Significance
Male	24	52.33	24.14	6.11	1.26	Not significant at 0.05 level
Female	24	43.17	16.65			

Table 3 shows that mean scores of reasoning ability of aided male students is 52.33 and of aided female students is 43.17. The SD of reasoning ability of aided male students is 24.14 and that of female students is 16.65. The t-value is 1.26 which is not significant at 0.05 level of significance. This shows that the male and female students of aided school do not differ from each other in their reasoning ability.

Conclusions

The present investigation concludes that the male secondary school students of aided schools do not differ significantly from their female counterparts in respect of their reasoning ability, however, a significant difference has been observed in reasoning ability of male and female students studying in un-aided schools in favor of female students.

References

- Sekar P. (2013), “the scientific attitude and reasoning ability of biology & computer group students”, **Indian journal of applied research, vol-III, Issue-VIII**
- Amy Trauth-Nare, Gayle A. Buck & Nicole BeemanCodwallander (2012): “levels of reasoning among girls engaged in technology enhanced in science inquiry in an urban

elementary classroom.” Indiana university, amtrauth @
Indiana.edu

- Bhatnagar, Suresh & Anamikasaxena (2007): Advanced educational psychology, Meerut, Surya publication, pp-306
- en. Wikipedia. Org/wiki/verbal-reasoning
- Fatima S.K., Reasoning ability of adolescent students, New Delhi, Discovery publishing house Pvt. Ltd.
- Gupta S.P. & Alkagupta(2013): Advanced educational psychology, Allahabad, Shradhapustak bhavan pp-405
- <http://en.Wikipedia.org/wiki/Numerical-reasoning>
- Jain T.R. & Viki Ohri “Statistics for economics and Indian economics development, New Delhi, V.K. global publication Pvt. Ltd- 2011-12
- Kapil, H.K. & Mamtasingh: Elements of statistics in social sciences, Agra, Agrawal publications 2013-14
- Lams (1997) “longitudinal study of youth labour markets” Melbourne, Australian council of educational research
- web.jhu.edu
- www.fibonacci.com

Peace Education: An Essential Element For Sustainable Development

Seema Dhawan*

Syed Zulfqar Ali Rizvi**

“If we are to reach real peace in this world we shall have to begin with the children.”

- Mahatma Gandhi

Peace education is the process of acquiring the values, the knowledge and developing the attitudes, skills and behaviors to live in harmony with oneself, with others, and with the natural environment. It can be described as a settled disposition and enhancing the confidence of the individual as an agent of peace, as informing the student on the consequences of war and social injustice and the value of peaceful and just social structures, encouraging the student to love the world and to imagine a peaceful future and caring for others. It is learning to manage anger and improve communication. It is centered on democracy education focusing on the political processes associated with conflict and postulating that with an increase in democratic participation, the likelihood of societies resolving conflict through violence and war decreases. New approaches to peace education propose an Integrative Theory of Peace in which peace is understood as a psychosocial, political, moral and spiritual reality.

Sustainable Development is the development that meets the needs of the present without compromising the ability of the future generations to meet their own needs. Aspects of Sustainable Development are economical, social, political, cultural and environmental. It can be understood through an appreciation of

* Associate Professor,

** Research Scholar, H.N.B.G. University Srinagar, Uttarakhand

the dynamic, complex and systemic relationship between the planetary ecological substrate and human societies in their social, economic and cultural make-up. Sustainable human societies are characterized by social justice, economic equity and enhanced human capabilities. Without peace, development of any kind is very difficult. Further, for sustained development, peace is of the utmost importance. In the present paper, peace education as an essential element of sustainable development has been discussed.

Key words: Peace Education, Sustainable Development

Peace is very important for an individual, a society, a nation and the world. It is a condition where individuals, institutions, regions, nations and the world move ahead without any threat. Peace is also a social and political condition that ensures development of individuals, society and the nation. It is a state of harmony characterized by the existence of healthy interpersonal or inter-group or inter-regional or inter-state or international relationships, prosperity in matters of social or economic welfare, the establishment of equality and a working political order that serves the true interests of all. In the context of intra-national and international relations, peace is not merely the absence of war or conflict, but also the presence of socio-cultural and economic understanding and unity.

Peace means, the state of inner harmony. It also means the enlightened condition, the state of inner peace, having successfully risen above the greed, hatred and ignorance. Each human being exists within the context of interrelationships that include other human beings, all living beings and the natural world. In other words, each person is sustained by the interdependent web of life. By awakening to this principle, we are able to expand instinctive self-love into a compassionate love for others, we are able to nurture the spirit of tolerance and empathy for others. The

principle of dependent origination also provides a theoretical foundation for peace. In terms of concrete action, it manifests itself as the practice of compassion. Compassion indicates the practical ethic of always maintaining an empathetic involvement with others. It means sharing their sufferings and unhappiness, working alongside them to overcome the mislead that are the root cause of suffering, transforming these into happiness, benefit and joy.

Today, the world is beset with enormous problems, though modern amenities prevail everywhere. Humankind has reached the highest peak of success, but humans are full of anxiety because of the tumultuous situation of the world. These problems include hunger, poverty, illiteracy, unemployment, discrimination against women, moral degradation, lack of health care, environmental degradation and so on. India as a developing country is not immune to these problems. Poverty, illiteracy, unemployment and environmental degradation are the burning questions in our country that contribute to peace less situations in the family, in society as well as in the country.

Conflict occurs when two or more parties believe that their interests are incompatible, express hostile attitudes or take action that damages other parties' ability to pursue their interests. It becomes violent when parties no longer seek to attain their goals peacefully, but resort instead to violence in one form or another. Violent conflicts are thus not inevitable, nor do they happen overnight. Conflict is a dynamic process, which may take differing forms and run through various stages of escalation and de-escalation, resulting from the complex combination and overlap of the various causes. Conflict can only continue to exacerbate the problems faced in the region, as it impacts directly on economic potential and human well-being, shattering the very foundations of society.

Conflict has multiple, long and short-term impacts on development, and on environmental and human well-being. Conflict undercuts or destroys environmental, physical, human and social capital, diminishing available opportunities for sustainable development. Conflict impacts on human well-being, reducing quality of life, the capabilities of people to live the kinds of lives they value. It results in the loss of lives, livelihoods and opportunity, as well as of human dignity and fundamental human rights. Livelihoods are directly affected through decreased access to and inadequate access to natural resources, as a result of exclusion, displacement and the loss of biodiversity. Conflict can set in motion a cycle of degradation and human vulnerability. Conflict contributes to the breakdown of social cohesion and the disruption of local governance system; this in turn may result in established safety nets becoming unavailable. The increase in social and economic vulnerability, as result of conflict, may in the face of environmental and land degradation, trigger new tensions and conflict over critical resources (Homer-Dixon and Blitt 1998). The incidence of poverty may increase, not only through the loss of livelihoods but also as a result of a growing inability of people to cope with change. This loss of resilience is also directly linked to diminished access to public services, resulting in, an increasing incidence of ill health, a contraction in formal employment opportunities, the destruction of subsistence livelihoods and other entitlements failures which affect consumption and nutrition, as well as the weakening of social cohesion and heightening insecurity (Luckham et. al., 2001). Children are a major target of conflict and violence.

The term 'peace' does not merely imply the absence of overt violence, sometimes referred to as 'negative peace'. It also encompasses the presence of social, economic and political justice which is essential to the notion of 'positive peace' (Hicks, 1985).

'Structural violence' is a term that is used to refer to injustices such as poverty, discrimination and unequal access to opportunities, which are at the root of much conflict. Structural violence is perhaps the most basic obstacle to peace, which by definition cannot exist in a society in which fundamental human rights are violated. Peace education must address the prevention and resolution of all forms of conflict and violence, whether overt or structural, from the interpersonal level to the societal and global level.

Jawaharlal Nehru said: “But I should like to make it clear that the policy India has sought to pursue is not a negative and neutral policy. It is a positive and vital policy that flows from our struggle for freedom and from the teachings of Mahatma Gandhi. **Peace is not only an absolute necessity for us in India in order to progress and develop but also of paramount importance to the world.**”

We know that peace is not merely the absence of war, but a condition of living where everyone can enjoy tolerance and respect. Peace education creates a culture of peace, helping to build a non violent and just society and is essential for survival of human beings on this earth. Achieving a culture of peace requires developing peaceful people. Peaceful people can be developed through educating them a sense of tolerance in relations. Peace education, broadly defined, includes all efforts to facilitate development of peaceful people. Peace education often takes place in schools, churches, families, community learning centers, counseling centers, clinics, prisons, and the workplace. Of course, it may occur anywhere, and the learners may be anyone including young children, graduate students, United Nations peacekeepers and police officers. In today's situation, especially in India, humane police officers are required. Nurturing human values among them is of utmost importance.

Robert Aspeshgh in his write up on Peace education stated that “Peace education is feasible in a violent world because there is a societal and educational necessity of Peace education. The societal necessity of Peace education focuses the need of insight to be given to Global issues and to bring changes accordingly and the people in general needs to be educated in order to be aware of the fact that the Global society should be made more peaceful. “Nonviolence education” is based on the ideas of Gandhi, King, and other great peacemakers.

Peace education in UNICEF refers to the process of promoting the knowledge, skills, attitudes and values needed to bring about behavior changes that will enable children, youth and adults to prevent conflict and violence, both overt and structural to resolve conflict peacefully and to create the conditions conducive to peace, whether at an intrapersonal, interpersonal, intergroup, national or international level.

Peace education is a broader discipline. Disbarment education, Environment education, Human right education, International education are associated with Peace education. Peace education deals with conflicts arising out of aggression or war situations and also arising out of injustice, exploitations and violation of Human rights.

The ultimate goal of education for peace, human rights and democracy is the development in every individual of a sense of universal values and types of behavior on which a culture of peace is predicated. It should therefore promote also the development of inner peace in the minds of students so that they can establish more firmly the qualities of tolerance, compassion, sharing and caring. As a values-oriented field that aims to cultivate among learners, the knowledge, attitudes, skills, and behaviors upon which a culture of peace is predicated. It serves as a reflexive educational

and community approach to social change. As such, peace educators teach about contemporary social, political, economic, ecological and ethical problems, exploring the root causes of conflict and facilitating the exploration of nonviolent social strategies to manage social discord without resort to violence. Hence, educators for peace seek to nurture intercultural understanding and global citizenship through developing respect for oneself, others, and the larger environment of which we are all a part (Reardon, 2002; Earth Charter, 2000).

Peace education is more effective and meaningful when adopted according to the social and cultural context and the needs of a country. It should be enriched by its cultural and spiritual values together with the universal human values. It should also be globally relevant. In order for peace education to become a regular inclusion and curriculum expectation within schools, nations and worldwide, teachers must be prepared to teach issues that are often socially uncomfortable and conflicting in order to combat the stigma, conflict and inequality that peace education seeks to diminish.

Therefore, peace education is the process of acquiring the values, the knowledge and developing the attitudes, skills and behaviors to live in harmony with oneself, with others, and with the natural environment. It can be described as a settled disposition and enhancing the confidence of the individual as an agent of peace, as informing the student on the consequences of war and social injustice and the value of peaceful and just social structures, encouraging the student to love the world and to imagine a peaceful future and caring for others. It is learning to manage anger and improve communication. It is centered on democracy education focusing on the political processes associated with conflict and postulating that with an increase in democratic participation,

the likelihood of societies resolving conflict through violence and war decreases. New approaches to peace education propose an Integrative Theory of Peace in which peace is understood as a psychosocial, political, moral and spiritual reality.

As elaborated by Staub (2002), the aims of peace education are to develop caring and non aggressive individuals who relate peacefully to others in their own lives, who promote the welfare of others and who take action to prevent violence in their society and in the world. Perhaps the most important contribution of psychology for peace education is to identify those dispositions knowledge, competencies, attitudes, and values that most strongly influence individual's peaceful behavior.

Peace is an essential condition for democracy and development. There should be a sense of tolerance in relations for the realization of true peace. In fact, there is a mutual relationship between democracy, development and peace. In the absence of peace, democracy cannot function and development cannot take place. On the other hand, peace cannot be achieved in the absence of democracy and development. Peace is still more essential for development in various areas. Democracy is better placed for eliminating conditions that generate public dissatisfaction. Development also promotes peace. It is through development that nations can ensure social and economic progress for the people and improve their quality of life.

Development is a process of societal change. It can be defined in many ways but refers broadly to social, economic and political processes which unlock expanded human capabilities and reduce vulnerability in society. Peace building refers to policies, strategies and actions which aim to build the capacity within society to resolve and manage conflicts non-violently. At the heart

of both development and peace building processes is the need to strengthen resilience and the capacity within society to manage change and resolve differences. Meanwhile, much of what is traditionally seen as “development” work e.g. improvements in social and economic well-being is also needed in peace building.

Conflict not only generates threat and fear, but also hampers economic, social, or political advancement. The democratic institutions cannot function well, if there is no peace. Citizens can participate in the process of decision-making at different levels only when the peace prevails. Peace is still more essential for development in various areas. No development activity is possible, if there is disturbance, violence or war. Development also promotes peace. It is through development that nations can ensure social and economic progress for the people and improve their quality of life. Even, at the individual level, any person can act positively, when his/her mind is calm and cool. Development initiatives contribute to sustain peace, security and stability in the countries. The Millennium Development Goals (MDGs), adopted by 189 Members of the United Nations on 8th September 2000, identified peace as key condition for successful development. The 2005 World Summit on MDGs universally recognized that “development, peace and security and Human Rights are interlinked and mutually reinforcing”.

There is a strong negative correlation between conflict and human development, in 2005, most of the countries with the lowest Human Development Index (HDI) rankings were also those immersed in conflict or had recently emerged from it (OSAA 2005). The resources available to people are diminished through the loss of access to land and other natural resources on which livelihoods are based, and the loss of access to education and health care and so is their freedom to “*Safeguarding the environment is a crosscutting United Nations' activity.*”

**"Nature has provided plenty of resources for mankind's
need, but not to the greed"**

Mahatma Gandhi (1869-1948).

Today there is a general recognition of a need to modify our approach to development in the present, even without taking into consideration the more difficult question of how future generations will cope with our legacy of spiraling population growth, expanding energy consumption and the inevitable depletion of vital natural resources. Whether, confronting the challenges of the present or the future, a new approach to development is a necessity which requires a real revolution in our behavior. Unless our life-style is subjected to considerable revaluation, including the adoption of far-reaching self-control regarding the satisfaction not of real wants but of self-gratifying desires, the emphasis on ecology could become yet another intensifier of the conflict between the rich and the poor (Brzezinski, 1993). Sustainable development represents an opportunity to construct a new approach and the success of that effort has powerful implications for issues of peace.

"Renewable resource scarcities of the next 50 years will probably occur with a speed, complexity and magnitude unprecedented in history...We have come to understand that scarcities of renewable resources often produce insidious and cumulative social effects, such as population displacement and economic disruption. These events can, in turn, lead to clashes between ethnic groups as well as to civil strife and insurgency (Homer-Dixon, 1993)."

Sustainable development was first defined in 1987 by the Brundtland World Commission on Environment and Development (WCED), which argued for a development strategy that: "...meets the needs of the present without compromising the

ability of future generations to meet their own needs” (WCED, 1987, p.43). The concept of sustainable development which strives to strike a balance between economic, environmental and social dimensions emerges as an important concept. Aspects of sustainable development have been incorporated into much legislation and have become a legal requirement for all major developmental activities. It is now widely recognized that humanity faces urgent problems affecting local, regional and global environments and social and economic development. The Earth's limited natural resources are being consumed more rapidly than they are being replaced and the effects of global warming upon ecological balance and bio-diversity are well known. The goals of the UN Decade of Education for Sustainable Development (2005-2014, DESD), are therefore to integrate the principles, values and practices of sustainable development (SD) into all aspects of education and learning. Education for Sustainable Development provides a vision of education that seeks to balance human and economic wellbeing with cultural traditions and respect for the environment.

Sustainability represents an approach to development which addresses the fundamental concerns of poverty, environment, equality, and democracy (UNCED, Rio de Janeiro, 1992). With the end of the Cold War, the pursuit of lasting peace and an end to conflict has become, together with sustainable development, a global imperative. The 1992 Rio Declaration, presented at the United Nations Conference on Environment and Development, asserted in Principle 25 that "Peace, development and environmental protection are interdependent and indivisible". In other words, the idea of peace forms an integral part of the idea of sustainable development. In the next century, these two concepts are likely to become inseparable.

To understand the events of the next fifty years, then, one must understand environmental scarcity, cultural and racial clash, geographic destiny, and the transformation of war (Kaplan, 1994). The relationship between development and world peace is compatible. The first is the self evident truth that sustained peace is a condition for development. It is obvious that no serious progress social, economical or environmental can occur in a situation where there is no peace, where there is civil war or internal disruption. The second postulate is that development is a condition for sustained peace. While accepting the varied perceptions of both the words, it is evident that peace and development are inseparable. Combined together, it is a condition where individuals, institutions, regions, nations and the world move ahead without any threat. In this condition, regions or nations are generally more stable domestically, likely to be democratically governed and respectful to human rights.

The current global trends, which present formidable challenges to the achievement of both peace and sustainability, include the problem of population growth above the carrying capacity, the destabilizing impact of widespread poverty and increasing social inequality, political, social, and economic breakdown. For the UN, environment is an important aspect of its peace-building goals. “Safeguarding the environment is a crosscutting United Nations activity. It is a guiding principle of all our work in support of sustainable development. It is an essential component of poverty eradication and one of the foundations of peace and security” (Annan 1997).

The 1992 UN Conference on Environment and Development (UNCED), also known as the Earth Summit, adopted Agenda 21 – a blueprint for sustainable development which emphasises the value of cooperation. A decade later, the

World Summit on Sustainable Development (WSSD), held in Johannesburg in 2002, further emphasized the centrality of peace and security to achieving environmental goals. Chapter 8 of the WSSD Johannesburg Plan of Implementation calls on the global community to:

“Create an enabling environment at the regional, sub-regional, national and local levels in order to achieve sustained economic growth and sustainable development and support for peace, stability and security, the resolution and prevention of conflicts, democracy, good governance, respect for human rights and fundamental freedoms, including the right to development and gender equality” (UN 2002).

Peace and security are a precondition for good environmental quality and sustainable resource management. Given this close relationship between peace and environment, it was emphasized that management plans should include provisions which encourage equitable access to and sharing of benefits from natural resource use, so as to avoid competition for natural resource control. These plans should also identify and support opportunities through which environmental management can contribute to peace and peaceful coexistence.

Peace is essential for development, and vice versa: development is essential for lasting and sustainable peace. Without peace, we will not win the fight against poverty. Without peace, the Millennium Development Goals will be optimistic but unrealistic promises. Peace is a prerequisite for human development and effective environmental management, both of which are globally agreed objectives, including those of the Millennium Development Goals (MDGs). Peace education focuses on promoting development with a view to eradicating poverty and placing countries, individually and collectively on a path of

sustainable growth and development, recognizes the importance of peace.

“The three pillars of sustainable development, however, cannot be achieved without peace. Peace is an essential condition for sustainable development, alongside democracy, good governance, human rights, social development and the protection of the environment and sound economic management” (NEPAD 2002).

Cooperation at different levels from local to national, to sub-regional, to regional, and to international is required for peace. Peace represents the key to unlock many opportunities for sustainable development. Through peace education, we can achieve our goal of sustainable development. Presently Peace Education is a very important issue all over the world for sustainable development and successful democracy.

Peace Education in terms of human rights education and environmental education are very essential in every stage of an education system for removing poverty, illiteracy and unemployment. In all of the previously-mentioned education systems of India, Peace Education and Sustainable Development Education should be incorporated in their curricula. This should be done through participatory peace education pedagogy such as sustainable development activities in the classroom. If it can be instilled in children at the primary level then it will continue for the rest of their lives. This will remove social differences, bring people closer and help to remove crime and conflict in society. In senior secondary level in general school system, peace education and sustainable development education exist to some extent. In the social science classes, there are topics on the environment; there is discussion about sustainable development. However, these issues are not practiced or taught in the classroom in a participatory way.

In secondary and higher secondary level of education there is peace, moral and human rights education but the problem is that there is a lack of trained teachers who can transform this content in knowledge in an effective way.

At the university level, there is more violence particularly in the public universities. After completing university education, students go for jobs in high levels of government and non government institutions. Every program at the university level should incorporate peace education, sustainable development education and human rights education in their regular syllabus, so that it can reflect practical life.

Our country's teaching systems follow the “banking system of education” which does not help students in their self-empowerment and is not rooted peace education pedagogy. All teachers should be trained in the values and skills of Peace Education, so that they can use them in the classroom.

In terms of implementing Peace Education and in order to make it effective, human rights, reflection of poverty, reflection of corruption, democracy, intercultural solidarity and sustainable development need to be incorporated in all levels and all systems of education curricula in India. We also need to conduct needs assessments on the basis of social crises and needs for developing educational curriculum.

Peace education has developed as a means to achieve certain goals such as reaffirmation of faith in the dignity and worth of the humanity. It can also help to promote sustainable development. Peace education is the method to work together for sustainable development. Most of the dispute related to sustainable development can be solved by proper inclusion of peace education in curriculum of every level of education. Peace education should be included in science and technological

education so that we can channelize the potential of young brains in a proper direction. Through peace education, we can minimize our defense expenses and use it in sustainable development policies of our country. India is using near about 10% of its Gross Domestic Product (GDP) on its defense budget. If we try to establish peace in whole world through peace education, each and every country of the world could be developed properly.

Peace, development and environmental protection are interdependent and indivisible. There can be no peace without equitable development, and there can be no development without sustainable management of the environment in a democratic and peaceful space. In the word of Gurudev Rabindra Nath Tagore:

Where the mind is without fear and the head is held high

Where knowledge is free;

Where the world has not been broke up into fragments by narrow domestic walls;

Where words come out from the depth of truth;

Where tireless striving stretches its arms towards perfection;

Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habits;

Where the mind is led forward by Thee into ever-widening thought and actions;

Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake.

- Rabindra Nath Tagore

Nobel Laureate (Literature), 1913

References –

- Adams, David. (2000). From the International year to a decade for a culture of peace and non violence. *International Journal of Curriculum and Instruction*, Vol. 1 No. 2, 1-10
- Annan, K.A. (1997). An Indispensable Contribution. *Our Planet*, 9(1): The Way Ahead. United Nations Environment Programme,

- Nairobi. <http://www.ourplanet.com/txtversn/91/annan>.
- Brzezinski, Zbigniew (1993). *Out of Control. Global Turmoil on the Eve of the 21st Century*. Collier Books. New York.
- Hicks, D. (1985) Education for peace: issues, dilemmas and alternatives. Lancaster: St. Martin's College.
- Homer-Dixon, Thomas F., Boutwell, Jeffrey H., and Rathjens, George W. (1993). "Environmental Change and Violent Conflict". In: *Scientific American*, February.
- Homer-Dixon, T. and Blitt, J. (eds. 1998). *Ecoviolence: Links among Environment, Population, and Security*. Rowman and Littlefield, Lanham
- Kaplan, (1994). "The Coming Anarchy". In: *Atlantic Monthly*, February.
- Luckham, R., White, S., Ahmed, I. and Muggah, R. (2001). *Conflict and Poverty in Sub-Saharan Africa: An Assessment of the Issues and Evidence*. IDS Working Paper 128. Institute of Development Studies, Brighton
<http://server.ntd.co.uk/ids/bookshop/details.asp?id=605>
- NEPAD (2002). *Declaration on Democracy, Political, Economic and Corporate Governance*. Proceedings of the Assembly of Heads of State and Government, Thirty-Eighth Ordinary Session of the Organization of African Unity, Durban, South Africa, 8 July.
- OSAA (2005). *Human Security in Africa*. United Nations Office of the Special Adviser on Africa, New York.
<http://www.un.org/africa/osaa/reports/Human%20Security%20in%20Africa%20FINAL>.
- Reardon, B. (2002). Human Rights and the Global campaign for peace education. *International Review of Education*, 48(3-4), 283-284.
- Staub, E. (2002). From healing past wounds to the development of inclusive caring: contents and processes of peace education, in: G. Salomon & B. Nevo (Eds) peace education: the concepts principles, and practices around the world (New York, Lawrence Erlbaum) pp. 73-88.

UN (2002). *World Summit on Sustainable Development. Plan of Implementation*. United Nations. Proceedings of the World Summit on Sustainable Development. Johannesburg, South Africa. 26 August – 4 September.

<http://www.un.org/esa/sustdev/documents/WSSD>.

वेदों में आग्नेय ऊर्जा के सन्दर्भ

डॉ. स्नेहलता शर्मा*

विश्व वाङ्मय की प्राचीनतम पुस्तक के रूप में स्वीकृत 'ऋग्वेद' का प्रारम्भ 'अग्नि' शब्द से होता है।¹ यह अग्नि क्या है? इसका गुण, धर्म एवं स्वभाव क्या है?

इसका आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक स्वरूप क्या है? भौतिक दृश्यमान् जगत् में किन-किन रूपों में आग्नि विद्यमान है? इस दृश्य एवं अदृश्य स्वरूप अग्नि की शक्ति एवं सामर्थ्य क्या है? क्या अग्नि रहित जगत् की कल्पना सम्भव है? आदि-आदि अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन करने पर अग्निविज्ञानात्मक अनेक वृत्तान्त विस्तार से देखने को मिलते हैं।

आधुनिक विज्ञान की भौतिकी शाखा में मुख्य रूप से शक्ति (Force), गति (Motion), ऊर्जा (Energy), सामर्थ्य (Power), ताप (Heat), ध्वनि (Sound), प्रकाश (Light), चुम्बकत्व (Magnetism), विद्युत् (Electricity), नाभिकीय ऊर्जा (Nuclear Energy) आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है। इनमें अधिकांश का सम्बन्ध अग्निविज्ञान से है।

ऊर्जा के विषय में एक सामान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि Energy can neither be created nor destroyed, It can be transformed from one form to another form अर्थात् ऊर्जा न तो उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट होती है। इसका रूपान्तरण मात्र होता है।

भौतिकी का उक्त सिद्धान्त नवीन नहीं है इस सिद्धान्त के आधार सूत्र वैदिक मन्त्रों में निहित हैं। यजुर्वेद² के अनुसार अग्नि (Energy) अक्षय एवं अमर है। अग्नि (ऊर्जा) एक ही है।³ उसका रूपान्तरण (Transformation) होता है। अतः इसे अनेक नामों से जाना जाता है। इस सन्दर्भ में निरुक्तकार यास्क अग्नि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

* सहायक आचार्य, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

अग्निः कस्मात्? अग्रणी भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अंगं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवति (न क्नोपयति आदयति न स्नेह्यति) स्थौलाष्टीविः निभ्यः आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः इताद्, अक्ताद्, दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहते वा, नीः परः।⁴

ऋग्वेद में भी अग्नि के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ अग्नि को इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा: — त्वं इन्द्रः, त्वं विष्णुः, त्वंब्रह्मा.....।⁵ वरुण, मित्र, अर्यमा— त्वं वरुणः, त्वं मित्रः, त्वं अर्यमा.....।⁶ रुद्र, मरुत् पूषा— त्वं रुद्रः त्वं मारुतं, त्वं पूषा।⁷ आदि देवताओं के रूप में अग्नि (ऊर्जा) को व्याख्यायित किया गया है। सामान्य जनमानस में शक्ति का स्त्रीरूप ही समझा एवं माना जाता है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में अग्नि को देवियों के रूप में भी वर्णित किया है— त्वम् अदितिः, त्वं भारती, त्वम् इडा, त्वं सरस्वती।⁸

अर्थात् गुण कर्म स्वभाव के अनुसार अग्नि (ऊर्जा) ही अदिति, इडा, सरस्वती और भारती है। प्रत्येक वैदिक देव एवं देवी ऊर्जा के ही विभिन्न रूप हैं। यह ऊर्जा कर्तृत्व के गुण धर्म के कारण ब्रह्मा है, धर्ता या पालक के रूप में विष्णु है, संहारक के रूप में रुद्र है।⁹

वैदिक अग्निशब्द के वाच्यार्थ पर विचार करते हुए डॉ. रामनाथ वेदालंकार लिखते हैं कि वेद मन्त्र प्रायः अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत आदि विभिन्न प्रक्रियाओं से व्याख्यात हो सकते हैं। तदनुसार अग्निशब्द भी अनेकार्थवाची है। अध्यात्म में वह ब्रह्म, जीवात्मा, प्राण, मन, वाणी, जठराग्नि आदि अर्थों को अधिदैवत में अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि अर्थों को, राजनीति में प्रधानमन्त्री, सेनापति, योद्धा, न्यायाधीश, राजदूत आदि अर्थों को, अधियज्ञ में आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि, होता, ऋत्विज, पुरोहित, शिक्षा के क्षेत्र में आचार्य, उपदेशक, समाज में — ऋषि, ब्राह्मण, क्षत्रियादि तथा माता-पिता, शिल्पी आदि अर्थों को द्योतित करता है। इसके कुछ प्रमाण भी डॉ. रामनाथ ने प्रस्तुत किये हैं। यथा अग्नि दूतं वृणीमहे....।¹⁰ विप्रो होतेह रक्षति.....।¹¹,

●●● वीथिका ●●●

अग्निं मन्ये पितरम्भ्रातरं सखायम्.....।¹², त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः।¹³, ब्रह्म ह्यग्निः।¹⁴, आत्मा वा अग्निः।¹⁵, प्राणो वा अग्निः।¹⁶, मन एवाग्निः।¹⁷ यजमानो अग्निः।¹⁸, विद्युदग्निः।¹⁹, आदित्योग्निः²⁰।

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों एवं व्याख्याओं से यह तो सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ऊर्जा, बल, शक्ति रूप में अग्नि सूक्ष्म एवं स्थूल रूप में सदैव समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहता है। इस ऊर्जा का समस्त प्राणिमात्र द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रयोग किया जाता है। परन्तु ऊर्जा का उपयोग किसी विशेष प्रयोजन मात्र से किया जाना हो तो अनेक उपक्रम अपेक्षित होते हैं। इन विशिष्ट उपक्रमों एवं प्रयोगों के कारण स्वरूप अनेक वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं। जिनसे मनुष्य के हितसाधक संसाधनों का आविर्भाव होता है। मानव प्रकृति से सुविधा एवं सरलता को प्राप्त करने की कामना करता है, इसी कारण वह सर्वदा नवीन आविष्कारों की और सतत उन्मुख एवं क्रियाशील रहता है। यह क्रियाशीलता नवीन अनुसन्धानों को जन्म देती है।

वैदिक संहिताओं में अग्नि को ही ऊर्जा का प्रतिनिधि माना गया है। अग्नि तत्त्व की मीमांसा ही ऊर्जा का विवेचन है।²¹

वेदों में वर्णित समस्त देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान है। अग्नि सम्बन्धी वैदिक मन्त्र अनेक रहस्यात्मकताओं से भरे हैं। इस सम्बन्ध में ऐसे तत्त्व भी वेदों में उपलब्ध होते हैं जो आधुनिक विज्ञान द्वारा ऊर्जा के सम्बन्ध में आविष्कृत किये गये हैं। इन आविष्कारों के मूल संकेतों का अन्वेषण वैदिकमन्त्रों में सहजता से किया जा सकता है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में अग्नि (ऊर्जा) सम्बन्धी विज्ञान का अधुनातन अनुसन्धान उन्नीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। सन् 1808 में डाल्टन नामक वैज्ञानिक ने अपना परमाणु सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इससे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि कणाद द्वारा प्रणीत वैशेषिकदर्शन में डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त के सभी बिन्दु बीजरूप में विद्यमान हैं। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त कणाद के वैशेषिक दर्शन में

प्रतिपादित परमाणु— सिद्धान्त का ही प्रयोगशालीय या प्रयोगिक संस्करण मात्र है। 1896 से पूर्व आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं, द्वारा परमाणु (ऐटम) को पदार्थ का अन्तिम तथा अविभाज्य (इण्डिविजिबिल) कण माना जाता था। 1896 में पाश्चात्य वैज्ञानिक सर जे.जे. थॉम्सन ने गैसीय विद्युत विसर्जन के अध्ययन के आधार पर सर्वप्रथम इलेक्ट्रॉन के अस्तित्व की खोज की और संसार को बताया कि इलेक्ट्रॉन परमाणु से भी छोटा कण है और यह परमाणु में से निकलता है। इस प्रकार परमाणु की अविभाज्यता का सिद्धान्त खण्डित हो गया। इन सन्दर्भों से स्पष्ट हो रहा है कि 1896 के पूर्व विश्व का कोई वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक परमाणु से छोटे कण के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इस प्रसंग में आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि 1896 से लगभग 20 वर्ष पूर्व सन् 1876 में महर्षि दयानन्द ने अपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक ग्रन्थ में वेद विषयक विचार के अन्तर्गत लिख दिया था कि "परमाणु पदार्थ का अन्तिम अविभाज्य कण नहीं है— इसको भी छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है।" स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह ज्ञान किसी प्रयोगशाला में प्रयोग के आधार पर अर्जित परिणाम से प्राप्त नहीं था, प्रत्युत वेद-शास्त्र आदि वैदिक वाङ्मय से प्राप्त किया था। इस प्रकार अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय अग्नि (ऊर्जा) सम्बन्धी अनुसन्धानों से समृद्ध है।

ऋग्वेद में लगभग 1400 अग्निपरक मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें अग्नि का पूरा विज्ञान परिलक्षित होता है। अग्नि में समस्त कार्यों के सम्पादन का सामर्थ्य होने से इसे विश्वकर्मा भी कहते हैं। अग्नि (ऊर्जा) समस्त रूपों (शब्द, रूप, प्रकाश, गति आदि) को धारण करती है अतः इसे विश्वरूपा भी कहा गया है।

वेदों में अग्नि (ऊर्जा) विज्ञान के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनमें गविष्टि एवं अश्वमिष्टिः²² शब्द प्रमुख हैं। गविष्टि (गो+इष्टि), यहाँ गो शब्द का अर्थ— सूर्य की किरणें हैं, अतः गविष्टि सूर्य-किरण-विज्ञान अर्थात् सूर्य की करणों का विवेचन व विश्लेषण है।

●●● वीथिका ●●●

अश्वमिष्टि (अश्व+इष्टि) शब्द का अर्थ है— अग्नि आदि की अश्वशक्ति या कार्य—परिमाण (Horse – Power, H.P) का विवेचन है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार अश्वशक्ति (H.P) 745.7 वाट प्रति सेकेण्ड है।

चारों वेदों में अग्नि (ऊर्जा) को सर्वव्यापक बताया है। यह द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि के प्रत्येक कण में व्याप्त है। ऊर्जा के कारण ही गति, स्थिति और परिवर्तन होता है। अग्नि विश्व को चेतना प्रदान करती है। वही विश्व की गति का केन्द्र है और द्यावापृथिवी में व्याप्त है—

विश्वस्य केतुः, भुवनस्य गर्भः, आरोदसी अपृणात् ।²³

आ रोदसी भानुना भात्यन्तः ।²⁴

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतिनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्य ।²⁵

इस सर्वव्यापक अग्नि को ही आधुनिक विज्ञान पूर्णतः स्वीकार करता है। वर्तमान सर्वमान्य धारणा के अनुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि ऊर्जा का ही विभिन्न रूप है। अर्थात् सृष्टि में जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब ऊर्जा ही है। द्रव्य (Matter) ऊर्जा का व्यक्तरूप है और ऊर्जा (Energy) द्रव्य का अव्यक्त रूप है। सृष्टि में द्रव्य और ऊर्जा का योग (Sum) सदैव स्थित (Constant) रहता है। द्रव्य का ऊर्जा में परिवर्तन आइंस्टाइन के नियम— $E = mc^2$, ($E=MC^2$) अनुसार होता है जबकि ऊ (ऊर्जा, Energy, E) द (द्रव्यमान, Mass, M) तथा ब (प्रकाश का वेग, Velocity of Light, $c = 3 \times 10^8$ मीटर/सेकण्ड) है। रेडियो सक्रियता (Radioactivity), परमाणु—विखण्डन (Atomic- Fission) आदि में जब द्रव्य का हास (सवे) होता है तो उपर्युक्त सूत्र के अनुसार, समान मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ऊर्जा का जब क्षय होता है तो समान मात्रा में द्रव्य उत्पन्न होता है। अर्थात् द्रव्य और ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय (interconvertible) है। अर्थात् सृष्टि के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ ऊर्जा के रूप हैं।

वैदिक वाङ्मय में अग्नि का एक रूप वैश्विक ऊर्जा (Universal Energy) के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस हेतु वेदों में वैश्वानर शब्द

का बहुधा प्रयोग हुआ है—

वैश्वानरो विश्वकृत् ।²⁶

वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम् ।²⁷

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः ।²⁸

आ सूर्ये..... ओषधीष्वप्सु मानुषेषु राजा ।²⁹

यह वैश्वानर अग्नि ही सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का उत्पादक और सृष्टिकर्ता है। यही संसार का केन्द्र भी है। यह ही समस्त भूमण्डल को अपने आकर्षण से वश में किए हुए है। सूर्य की किरणों से लेकर मानव जगत् तक वृक्ष—वनस्पतियों में, जल में, समुद्र में इसका साम्राज्य है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में आग्नेय ऊर्जा के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है जो वस्तुतः वर्तमान समय में प्रयोग में आने वाले लगभग सभी रूप कहे जा सकते हैं। पुनरपि इस सन्दर्भ में अपेक्षाकृत अधिक शोध की आवश्यकता है, जिससे वैदिक कालीन ऊर्जा विषयक ऋषि—दृष्टि स्पष्ट हो सके।

सन्दर्भ —

1. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।। ऋग्वेद 1.1.1
2. मर्तेषु—अग्निरमृतो नि धायि । यजु. 12.24
अग्निरमृतो अभवद् वयोभिः । यजु. 12.25
3. ऋग्वेद—10/83/3
4. निरुक्त 7.1
5. ऋग्वेद—2.1.3
6. ऋग्वेद—2.1.4
7. ऋग्वेद—2.1.6
8. ऋग्वेद—2.1.11
9. ऋग्वेद—2.1.1 —10 एवं 5.3.1.—5
10. ऋग्वेद—1.12.1

11. ऋग्वेद-1.14.9
12. ऋग्वेद-10.6.3
13. ऋग्वेद-1.31.1
14. शतपथ- 1.6.1.52
15. शतपथ- 21.7.3.12
16. शतपथ- 2.2.2.15
17. शतपथ- 10.1.2.3
18. शतपथ- 6.2.2.2
19. तै.आ. 2.14.1
20. शतपथ- 6.4.1.1
21. वेदों में विज्ञान, डॉ. कपिल देव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद, ज्ञानपुर भदोही, पृष्ठ-1
22. मघवन् गविष्टये अश्वमिष्टये । ऋ. 8.61.7 आने अश्वमिष्टे ।
ऋग्वेद 2.6.2
23. यजुर्वेद- 12.23
24. ऋग्वेद- 10.45.4
25. यजुर्वेद- 12.37
26. अथर्ववेद 6.47.1
27. ऋग्वेद 1.59.1
28. ऋग्वेद 1.53.3
29. ऋग्वेद 1.53.3

अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यलक्षणविमर्श

डॉ० सुप्रिया टण्डन*

अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की अवधारणा संस्कृत काव्यशास्त्रियों के गम्भीर चिन्तन का विषय हो गया है। काव्य क्या है? इस सन्दर्भ में अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के नवीन परिदृश्य दृष्टिगत हो रहे हैं। आचार्य भरत से लेकर आचार्य जगन्नाथ ने काव्यचिन्तन की स्थूल प्रकृति पर विचार व्यक्त किये परन्तु आज परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा है। अर्वाचीन संस्कृत के प्रख्यात संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा, आचार्य शिव जी उपाध्याय, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी, आचार्य रहसविहारी द्विवेदी आदि ने अभिनव काव्यलक्षण सन्दर्भ में नवीन शैली में विचार प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि इन समस्त अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों के सम्मुख पूर्ववर्ती आचार्यों के चिन्तन का निष्कर्ष है जिससे काव्य क्या है इसको व्यक्त करने में सहायता प्राप्त हुयी है। काव्यात्मविवेचन सन्दर्भ में आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अपने काव्यग्रन्थ काव्यालंकारकारिका में स्पष्टतः कहा है –

आनन्दकोशस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।

अलङ्कृतार्थसंवित्ति शाब्दी काव्य प्रकीर्त्यते।।¹

आचार्य द्विवेदी ने काव्य को अलंकृतार्थ संवित्ति के रूप में विवेचित किया है 'अलं' शब्द ब्रह्मा का वाचक है। ब्रह्म आनन्दयुक्त होता है जिससे ब्रह्मनुभव प्राप्त हो वह संवित्ति काव्य है। अग्निपुराण में 'अलं' शब्द ब्रह्म शब्द का पर्याय कहा गया है। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने अलं तत्व को काव्य की आत्मा कहा है। उन्होंने काव्यजनित सामान्य सौन्दर्य तथा सौन्दर्य के हेतुभूत गुण, अलंकार, रीतिवृत्ति आदि समस्त धर्मों को अलंकार मानते हुये लिखा है—

* 2/356, जानकीपुरम विस्तार, लखनऊ।

अलम्भावो ह्यलङ्कारः स च सौन्दर्यतत्कृतोः ।

विभक्तात्मा विभुर्जीव ब्रह्मणोश्चिदघनो यथा ॥ ²

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अलंकृत शब्दार्थ समष्टि को काव्य की संज्ञा दी है। सनातन कवि का काव्यलक्षण आचार्य भामह की काव्यदृष्टि का समर्थन करता परिलक्षित होता है। काव्यसौन्दर्य के हेतु रस, छन्द, गुण, रीतिवृत्ति इत्यादि अलंकार के अन्तर्गत समाहित है ऐसा आचार्य द्विवेदी ने काव्यालंकारकारिका में स्वीकृत किया है।

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने यद्यपि शब्दार्थसमष्टि को काव्य कहा है तथापि नवीन मत का प्रतिपादन करते हुए शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को काव्य कहा है —

शब्दार्थवर्तिसत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम् ।

काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयं सत्यस्यमात्र विशेषता ॥ ³

सत्यान्वेषण उनका प्रमुख लक्ष्य है। काव्य की आत्मा सत्यानुभूति को माना है। उनका मन्तव्य है कि सत्य अनुभूति यथार्थ अनुभूति है यह अनुभूति जितनी सूक्ष्म होती है उतनी ही चमत्कारिणी है। यही चमत्कारिणी सत्यानुभूति काव्य की आत्मा है।

शब्दार्थसमष्टि को काव्यलक्षण के रूप में उन्होंने भी स्वीकार किया है —

सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थिति ।

शब्दार्थयोर्हि सद्भावात् अस्य साहित्यरूपता ॥ ⁴

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने काव्यसत्यालोक में सत्य को अभिनव तत्व के रूप में परिभाषित किया जो कि नवीन है। उनका मानना है कि सत्य ऐसा तत्व है जिसमें शब्द, अर्थ, अलंकार, व्यञ्जना, रस, गुण आदि समस्त तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है।

अभिनव काव्यशास्त्रीय आचार्य शिव जी उपाध्याय ने अपने काव्यग्रन्थ 'साहित्यसन्दर्भ' में मन्तव्य प्रस्तुत किया।

यदर्थं सस्पृहं लोको यदाप्तुं परमोत्सुकः ।

यदाप्य परिभुज्यापि सोत्कण्ठस्तद्धि सुन्दरम् ॥ ⁵

समाज जिसे प्राप्त की इच्छा रखता है, उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक होता है और जिसे प्राप्त करने के पश्चात् भी उत्कण्ठित होता है वह सुन्दर है।

उनका मानना है कि सौन्दर्याधायक काव्य की ही प्रतिष्ठा है और इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण शास्त्र अनर्थ है।

सौन्दर्याधायकं काव्यसाहित्यं चेत्प्रतिष्ठितम्।

तदन्यन्निखिलं शास्त्र किमग्राहमसुन्दरम्।।

नेतुदुह्य यतश्शास्त्रोच्चयस्तत्वप्रमाणकः।

काव्यसाहित्यमेकान्त सौन्दर्यज्ञान साधनम्।।⁶

आचार्य उपाध्याय जी का मानना है कि निस्यन्दित होते हुए रस से ओतप्रोत, गुणों और अलंकारों से युक्त, दोषों से रहित, भावों से भूयष्टि काव्य साहित्य ही सुन्दर तत्व है –

निर्गलद्रसनिव्यूढं गुणालंकारसञ्चितम्।

निर्दुष्टं भावभूयिष्ठं काव्यसाहित्यमेव तत्।।⁷

अभिराजयशोभूषण में अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने काव्यलक्षण प्रस्तुत किया –

काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भः स्वभावजम्।।⁸

लोकोत्तर, रसगर्भ तथा स्वभावज को काव्य कहा जाता है। यहां आख्यान शब्द अभिव्यक्ति का परिचायक है। काव्यलक्षण में अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने शब्दार्थ शब्द के स्थान पर आख्यान शब्द प्रयुक्त किया है। लोकोत्तर, रसगर्भ, स्वभावज आख्यान के तीन विशेषण कहे गये हैं। यदि आख्यान रसात्मक तथा रमणीय होता है तभी काव्य लोकोत्तर कहा जाता है ऐसा विचार है अभिराज राजेन्द्र मिश्र का।

सगुणत्वमदोषत्वं निश्प्रयत्नाऽप्यलङ्कृतिः।

प्रज्ञा चापि नवोन्मेषा लोकोत्तरत्वकारणम्।।⁹

●●● वीथिका ●●●

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपने काव्यलक्षण के माध्यम से पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यविषयक विचारों को व्यक्त किया है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र के अनुसार सगुणत्व, अदोशत्व, सालंकारत्व तथा प्रतिभाजन्यत्व आदि गुणों से काव्य लोकोत्तर सिद्ध होता है इन समस्त गुणों के कारण काव्य सामान्य ग्राम्यकथन की तुलना में विलक्षण प्रतीत होता है। ग्राम्यकथन में न माधुर्यादि गुण होते हैं न ही हृदयवर्जक शब्दों तथा अर्थों के अलंकार होते हैं। उनमें न ही श्रुतिकटु नेयार्थादि दोषों का अभाव संभव होता है। उन ग्राम्य कथनों में प्रतिभा संस्पर्श का विलास भी नहीं होता है।

उपर्युक्त काव्यलक्षण कुछ नवीनता के साथ प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित काव्यलक्षण का समर्थन करता है।

अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'अभिनवकाव्यालंकारसूत्र' में काव्यलक्षण विषयक विचार प्रस्तुत करते हुए कहा –

लोकानुकीर्तनं काव्यम् ॥¹⁰

उनके अनुसार केवल स्थावरजंगमात्मक संसार नहीं है अपितु कविचेतना के द्वारा विभाव्यमान समस्त भुवन लोक है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत के लोकानुकीर्तन का अनुकरण करते हुए उन्होंने काव्य को परिभाषित किया है।

लोक के तीन रूप माने हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने तीनों के समग्र समुल्लास को जीवन कहा है। इन तीनों रूपों के रहने पर काव्य की रचना होती है। काव्यलक्षण में प्रयुक्त अनुकीर्तन की चार अवस्थाओं पर आधुनिक काव्यशास्त्री आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने विचार व्यक्त किए हैं –

अनुन्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव, अनुव्याहरण।

उनका विचार है कि अनुन्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव, अनुव्याहरण के

विनियोग से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्व काव्य में परिपूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। यही काव्य की पूर्णता कहलाती है। यही अलंकार है। अतः अलंकार ही काव्य है।

इस प्रकार आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने लोकानुकीर्तन को काव्य मानते हुए उसकी संगति अलम्भाव से सम्बद्ध की है।

आचार्य रहसविहारी द्विवेदी कृत नूतन काव्यशास्त्रीय रचना 'नव्यकाव्यतत्वमीमांसा' में आधुनिक परिवेश पर विचार करते हुए लिखा है –

लोकोत्तर हृदयाह्लादे लोकोद्बोधे च संगता ।

प्रज्ञावतः कवेः, सद्वाक् काव्यमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् लोकोत्तर, हृदयाह्लाद तथा लोकोद्बोधन में संगत प्रज्ञावान कवि के सद्वाक को काव्य माना गया है।

उपर्युक्त नवीन काव्यलक्षण की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि आधुनिक काल में अनेक काव्यशास्त्रीय प्रधान ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ। अर्वाचीन युग में भी काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि विद्वान् विराजित हैं। उनके अथक् प्रयासों से आधुनिक काव्यशास्त्र का उत्थान दृष्टिगत होता है।

प्राचीन परम्परा की तुलना में अभिनव काव्य परम्परा लघु नहीं है अपितु नित्य नूतन काव्यग्रन्थों की रचना की जा रही है। इस प्रकार संस्कृत काव्यपरम्परा लोकप्रिय प्रासांगिक दृष्टिगत होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र परम्परा पण्डितराज के साथ समाप्त नहीं हुयी है अपितु आधुनिक युग में विद्यमान है। अभिनव काव्यशास्त्र में अभिनव काव्यशास्त्रियों का चिन्तन साधु है।

सन्दर्भ –

1. काव्यालंकारकारिका –1
2. वही, 48
3. काव्यसत्यालोक – 15

●●● वीथिका ●●●

4. वही, पृ० – 1
5. साहित्यसन्दर्भ – 5
6. वही, 5. 10, 5. 11
7. वही, 5. 7
8. अभिराजयशोभूषण – 34
9. वही, 37
10. अभिनवकाव्यालंकारसूत्र – 1.1

वैदिक सौर शक्ति विमर्श

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा*

भारतीय चिन्तन परम्परा में ज्ञान का आदिस्त्रोत वेद को माना जाता है। वेद मूलतः विधानशास्त्र हैं अतः वेदों में ऊर्जा (शक्ति) सम्बन्धी चिन्तन का होना स्वाभाविक है। यहाँ ऊर्जा (शक्ति) के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा— जल, प्रस्थर, वनस्पति, औषधियाँ, अग्नि, सूर्य, समुद्र, खान, भूगर्भ इत्यादि। यहाँ विवेच्य है— सौर शक्ति अथवा सौर ऊर्जा। विभिन्न कोष एवं निर्वचन ग्रन्थों में 'सौर' शब्द की निष्पन्नता के उल्लेख प्राप्त होते हैं— अमरकोष¹ एवं वामनशिवराम आप्टे² के शब्दकोष के अनुसार सौर शब्द **सूर+अण्** के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है सूर्य सम्बन्धी तथा ऊर्जा शब्द **ऊर्ज्+णिच्+अच्** के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— उत्साह, बल, स्फूर्ति। हलायुध कोश में **ऊर्ज्जयति उत्साहयति जिगीषून्** इस प्रकार व्युत्पत्ति की गई है।³ निरुक्तकार यास्क ने सूर्य का स्थान द्युलोक बताया है। निरुक्त में सूर्य का निर्वचन 'सृ' आगे बढ़ना अथवा 'सु' ईद्= प्रेरित करना अर्थों में किया गया है। मित्र और सविता नामक देवों के रूप में भी इसी शक्ति की उपासना की गई है।

सूर्य हमारे लिए ऊर्जा (शक्ति) का अखण्ड भण्डार है। सूर्य के बिना चराचर जगत् का अस्तित्व असम्भव है। अतः हम सूर्य रहित जगत् की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि हमारे वैदिक ऋषियों ने सौर शक्ति की विविधरूपों में प्रार्थनाएँ की हैं—

उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्यं⁴

ज्योक् च सूर्य दृशे।⁵ सूर्यः ते तन्वे शं तपति।⁶

अर्थात् आयुष्यवर्धक सूर्य को आकाश में नित्य उदित होते हुए अनेक वर्षों तक देखें, हमें निरन्तर सूर्य के दर्शन होते रहें। यह सूर्य मनुष्य को सुख प्रदान करने के लिए ही तपता है। इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाएँ वेद में

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, संस्कार भारती स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बगरू, जयपुर

●●● वीथिका ●●●

दृष्टिगोचर होती हैं।

सूर्य संसार की आत्म शक्ति (Soul)– वेद में सूर्य को संसार की आत्मा कहा गया है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।⁷

सूर्य ही सौरमण्डल के अन्य ग्रहों उपग्रहों पर नियन्त्रण रखता है। वही समस्त सौरमण्डल को ऊर्जा प्रदान करता है। सूर्य की ऊर्जा से ही संसार के समस्त चराचर जगत् में गति, प्रगति, विकास एवं विलास व्याप्त है।

सूर्य के द्वारा ही संसार को जीवन शक्ति प्राप्त होती। यही कारण है कि वैदिक ऋषि ने सूर्य को आत्मा कहा है। यह सूर्य समाप्त न होने वाला तेजपुंज है।⁸

नानासूर्य— ऋग्वेद में अनेक सूर्यो 'नानासूर्याः' का उल्लेख है। एक स्थान पर सप्त आदित्याः से सात सूर्यो के विषय में संकेत प्राप्त होते हैं। अर्थात् सूर्य अनेक हैं, सप्त आदित्या से तात्पर्य सात सौर मण्डल से है—

सप्त दिशो नानासूर्याः। देवा आदित्या ये सप्त।⁹

अथर्ववेद के अनुसार इन सात सूर्योः का केन्द्रीय सूर्य कश्यप है। ये सात सूर्य उसके अंग भूत हैं — कश्यप.....यस्मिन् आर्पिताः सप्त साकम्।¹⁰ तैत्तिरीय—आरण्यक में इन सात सूर्यो के नामों का भी उल्लेख है—आरोग, भ्राज, पटर, पतंग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास।¹¹

सौर ऊर्जा के स्रोत— वैदिक ऋषियों के अनुसार वायु, अप और अग्नि सूर्य के मूलभूत द्रव्य हैं। इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में अश्मापृश्नि शब्द प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पृश्निरश्मा¹² शब्द मिलता है। आधुनिक विज्ञान भी सूर्य के इन तीन मूल द्रव्यों को स्वीकार करता है। इन्ही तीनों द्रव्यों में परस्पर क्रिया—प्रतिक्रिया होने से सूर्य में ऊर्जा निर्मित एवं विसर्जित होती है। अथर्ववेद के अनुसार सूर्य की ऊर्जा का आधार सोम है। आधुनिक विज्ञान में इस सोम तत्व को हाइड्रोजन (Hydrogen, H2 & Helium, He) कहा जाता है। —सोमेन— आदित्या बलिनः।¹³ अर्थात् इस सोम तत्व से सूर्य ऊर्जा को प्राप्त करता है।

यजुर्वेद में इसे भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र के अनुसार सूर्य में दो प्रमुख तत्त्व प्राप्त होते हैं— 1. 'अपां रसम्' जल का सार भाग जो ऊर्जा के रूप में है। उद्वयस् शब्द ऊर्जारूप या गैसरूप अर्थ का बोधक है। जल का यह सार भाग ही हाइड्रोजन (Hydrogen) है। हाइड्रोजन के लिए 'अपांरसः' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है। 2. 'अपां रसस्य यो रसः' का अर्थ जल के सार भाग का सारभाग है। जल का सारभाग हाइड्रोजन है और उसका सारभाग हीलियस (Helium) है।¹⁴ मन्त्र में 'सूर्य सन्तं समाहितम्' के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ये दोनों तत्त्व सूर्य में विद्यमान हैं—

अपां रसम् उद्वयसं, सूर्यं सन्तं समाहितम् ।

अपां रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तमम् ।¹⁵

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य में 90 प्रतिशत हाइड्रोजन, 8 प्रतिशत हीलियम एवं 2 प्रतिशत अन्य द्रव्य हैं। सूर्य की सतह पर 6 हजार डिग्री से.ग्रे. तापमान पाया जाता है। इसके आभ्यन्तर भाग में तापमान 1 करोड़ 30 लाख डिग्री से.ग्रे. का अनुमान किया गया है। इस ताप की अधिकता के कारण ही हाइड्रोजन गैस हीलियम के रूप में परिवर्तित हो जाता है, इसे वर्तमान विज्ञान की भाषा में तापीय न्युक्लिक अभिक्रिया (Thermonuclear Reactions) कहा जाता है। गैसों के इस रूपान्तरण के कारण सूर्य को निरन्तर विशाल ऊर्जा प्राप्त होती रहती है। सूर्य को अपनी इस ऊर्जा के लिए प्रतिसेकेण्ड पचास लाख टन द्रव्यमान की आवश्यकता होती है।

विश्व की आधुनिकतम प्रयोगशालाओं में हाइड्रोजन बम के द्वारा इतनी भयंकर ऊर्जा को उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु यह ऊर्जा सेकेण्ड के एक अंश तक ही स्थिर रह पाती है। यही ऊष्मा सूर्य में करोड़ों वर्षों से निरन्तर उत्पन्न हो रही है परन्तु सूर्य का अस्तित्व यथावत् है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने सूर्य को कभी भी समाप्त न होने वाला तेजपुञ्ज कहा है।¹⁶

सूर्य की सप्त रश्मियाँ— वस्तुओं में अपना स्वयं का वर्ण (रंग) नहीं

●●● वीथिका ●●●

होता है। समस्त वस्तुएँ सूर्यरश्मियों से वर्ण प्राप्त करती हैं। सूर्य ही समस्त रंगों का स्रोत है — तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृपासि सूर्यम् — विश्वमाभासि रोचनं।

सूर्य की किरणों से प्रकृति में निम्न परिवर्तन होते हैं—

1. तरणि (रंग परिवर्तन)
2. दर्शतो (प्रकाश— लाईट)
3. विश्व को रोचक लगना
4. ज्योति (Heat की प्राप्ति)

वैदिक ऋषि सूर्यरश्मि—विज्ञान से भली भाँति परिचित थे, उन्हें ज्ञात था कि सूर्य की सात रंग की किरणे जगत् में 7 रंगों को उत्पन्न करती हैं—‘अवधिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्त रश्मयः’ उक्त सप्तविध सूर्यरश्मियाँ ही उच्च मध्यम एवं निम्न भेद से 21 प्रकार की हो जाती हैं। वेद में इसको त्रिषप्ता (3x7= 21) कहा गया है। इन रंगों के मिश्रण से अनेक रंगों का निर्माण होता है। इस सूर्यरश्मिविज्ञान के सम्बन्ध में अथर्ववेद में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं —

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।¹⁷

विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः।¹⁸

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलते हैं।

यूसीमा कृवन् तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्।

तं सूर्य हरितः सप्त यह्वीः स्पाशं विश्वस्य जगतो वहन्ति।।¹⁹

अर्थात् स्थिर सत्ता वाली 7 रंग की किरणें अन्धकार को हरने वाली हैं। प्रकाशमण्डल को समाप्त न करती हुई जगत् को रूप प्रदान करती हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य की सात किरणे जब PRISM (त्रिकोणीय शीशा) में होकर निकलती हैं तो वे 7 रंगों में विभक्त हो जाती हैं VIOLET, INDIGO, BLUE, GREEN, YELLOW, ORANGE और RED.

आकाश में दिखने वाला इन्द्रधनुष का कारण भी यही सप्तविध

रश्मियाँ हैं। सूर्य की ये रश्मियाँ बादल के काँचरूपी जलबिन्दुओं से निकलने पर सातरंगों में विभक्त हो जाती हैं। यह प्रकरण ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है—
सप्तत्वा हरितो रथे वहन्ति देवसूर्यः। शोचिष्केशं विचक्षणः।।

**अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूर्यो रथस्य नप्यः ताभिर्याति
 स्वयुक्तिभिः।।²⁰**

इन सूर्य रश्मियों के नाम एवं गुणधर्मों का उल्लेख भी वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है— वायुपुराण में प्रमुख सात किरणों का नाम इस प्रकार है—

1. सुषुम्णः 2. हरिकेशः 3. विश्वकर्मा 4. विश्वश्रवाः या विश्वव्यचाः 5. संपद्वसुः या संयद्वसु, 6. अर्वावसुः या अर्वाग्वसु एवं 7. स्वराट्। इन किरणों के निर्देश ऋग्वेद²¹, कौषीतकी ब्राह्मण²² शतपथब्राह्मण²³ एवं तैत्तिरीयसंहिता²⁴ में प्राप्त होते हैं।

उक्त सात प्रमुख किरणों के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावक सौरकिरणों के, रंग एवं तीव्रता के वैदिकग्रन्थों में निर्देश प्राप्त होते हैं यथा— अङ्गिरसः, आदित्याः, वृष्टिवनिः, मरीचिपाः, सुरुचः, अमाः, हंसाः, ऋषभः, सुपर्णाः, हरितः, शुचिकिरणः, अक्षितयः, शिपयः, पशुः, सुकृतः आदि।

वेद में सूर्य की विभिन्न शक्तियों का वर्णन प्राप्त है। सूर्य में आकर्षणशक्ति (Magnetic Power) है। इस शक्ति से ही सूर्य समस्त द्युलोक को धारण करता है—**सूर्येण उत्तमिता द्यौः।²⁵, अस्कम्भने सविता द्याम अदृंहत्।²⁶** इसी शक्ति से सूर्य पृथ्वी को भी धारण करता है—**सविता यन्त्रैः पृथिवीम्—अरम्णात्।²⁷**

सूर्य को आरोग्यदाता,²⁸ विषहर्ता²⁹, कृमिनाशक,³⁰ दीर्घ आयुष्य दाता³¹ कहा गया है।

इस प्रकार प्रकृति की महत्तम शक्ति के प्रतिनिधि सूर्य देवता अपने स्थूल रूप में परम तेजस्वी हैं, अपने सूक्ष्मरूप में प्रकृति एवं प्राण के संचालक हैं और वैदिक ऋषियों के गूढ आध्यात्मिक चिन्तन में अद्वितीय चेतना शक्ति का प्रतिरूप रहे हैं।

●●● वीथिका ●●●

अन्त में कहा जा सकता है कि वेद में केवल कर्मकाण्ड या केवल आध्यात्मिक देवोपासना ही नहीं है प्रत्युत समग्र जीवन का ज्ञान-विज्ञान समाविष्ट है। इस वेदविज्ञान पर अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

सन्दर्भ –

1. अमरकोष, पृ. 40
2. वमन शिवराम आप्टे, संस्कृत- हिन्दी कोश पृ. 1131
3. हलामुध कोश पृ. 182
4. ऋग्वेद. 10.7.7
5. अथर्ववेद. 12.1.18
6. अथर्ववेद 8.1.5
7. ऋग्वेद- 1.115.1, यजुर्वेद 7.42, अथर्ववेद 13.2.35
8. ऋग्वेद- 3.26.7
9. ऋग्वेद-9.114.3
10. अथर्ववेद-13.3.10
11. तैत्तिरीय आरण्यक 1.7.1
12. ऋग्वेद-5.47.3
13. अथर्ववेद-14.1.2
14. कपिलदेव द्विवेदी, वेदों में विज्ञान, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, पृ. 13
15. यजुर्वेद- 9.3
16. ऋग्वेद- 3.26.7
17. अथर्ववेद-1.1.1
18. अथर्ववेद-13.1.11
19. ऋग्वेद-4.13.3
20. ऋग्वेद 1.50. 8-9
21. सूर्यरश्मिर्ष हरिकेश:- ऋग्वेद 10 / 139 / 1
22. असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ तपति। कौषितकी ब्राह्मण 5 / 5

23. असौ विश्वव्यचाः व्यचो भवति । शतपथ ब्राह्मण-
8 / 1 / 2 / 1 / , 6 / 1 / 18
24. संयच्च प्रचेताश्चाग्नेः सोमस्य सूर्यस्य । तैत्तिरीय संहिता-
4 / 4 / 11 / 2
25. ऋग्वेद- 10.85.1
26. ऋग्वेद- 10.149.1
27. ऋग्वेद- 10.149.1
28. अथर्ववेद- 1.12.2
29. अथर्ववेद -6.100.1
30. अथर्ववेद -2.32.1
31. अथर्ववेद -3.31.7

भविष्य का हिन्दी जनसंचार

मणिकान्त पाण्डेय*

संचार और जनसंचार— संचार अंग्रेजी भाषी 'कम्यूनीकेशन' शब्द का हिन्दी पर्याय है जो मूलतः लैटिन भाषा के शब्द 'कम्यूनिस' (कॉमन) से बना है, जिसका अर्थ—विचार, सूचना, संदेश का संचरण या संप्रेषण है। इसके समकक्षी हिन्दी शब्द 'संवाद' और 'संप्रेषण' है। संचार का सर्वप्रथम रूप व्यक्ति स्तर पर अपने आपसे बातें करना है, पर संवाद में या स्वयं से नहीं हो सकता। इसके लिए कोई अन्य व्यक्ति अवश्य चाहिए। संचार के माध्यम से संवादकर्ता किसी सामने वाले व्यक्ति को स्वकथन, स्वविचार एवं स्वकीय अभिवृत्तियों का उल्लेख जनसमाज के सामने करने की प्रक्रिया अपनाता है। अतः 'स्व' से हटकर 'पर' के सामने कुछ करने की प्रक्रिया अपनाता है। अतः 'स्व' से हटकर पर के सामने विचार या संदेश रखकर उसकी प्रतिक्रिया तक में दूसरे व्यक्ति की भूमिका का महत्त्व व्यापक हो जाता है।

संचार के बिना 'जनसंचार' संभव नहीं है। संचार की आवश्यकता निरूपित करते हुए डॉ० विजय कुलश्रेष्ठ कहते हैं कि— "संचार दो व्यक्तियों के मध्य ऐसी वाणीगत एवं सांकेतिक प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत प्रश्नों, शंकाओं, विचारों और अपेक्षाओं का समाधान या सकारात्मक—नकारात्मक पक्षों का उद्घाटन होता है। इस प्रकार संचारक अपेक्षाओं की दशा में प्रापक इच्छा—अनिच्छा तथा अभिवृत्ति का संकेत भी करता है। दूसरे शब्दों में संचारक दश्रोपा (दर्शक—श्रोता—पाठक) वर्ग तक अपना मंतव्य पहुँचा कर अपने विचार भाव, सूचना एवं अभिकृति की भागीदारी करता है।"

संचार की अनेक विद्वानों द्वारा बहुत सी परिभाशाएँ दी जा चुकी हैं इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाशाएँ इस प्रकार से हैं—

विल्वर श्राम— "संचार लैटिन भाषा के कम्यूनिस शब्द से ग्रहण

* एम०फिल्, नेट/जे०आर०एफ०, के० आर० जी० कॉलेज, जीवाजी, विश्वविद्यालय ग्वालियर (म०प्र०)।

किया गया है। जब हम संप्रेषित करते हैं तब हम अपनी सूचना, विचार और अभिवृत्ति की भागीदारी का प्रयास करते हैं।”

चालर्स ई० आसगुड- “यह एक प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति ऐसे सभी विचारों, तथ्यों, अनुभवों अथवा प्रमाणों का विनमय करते हैं। जिससे प्रत्येक व्यक्ति संदेश का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वास्तव में यह संप्रेषक और प्रापक के बीच किसी संदेश अथवा संदेशों की शृंखला प्राप्त करने के लिए की गई सम्मिलित क्रिया है।”

लूमिक बेगल- “संचार एक प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक व्यवस्था के द्वारा सूचना, निर्णय और निर्देश दिये जाते हैं और यह एक मार्ग है जिसमें ज्ञान विचारों और दृष्टिकोणों को निर्मित अथवा परिवर्तित किया जाता है।”

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि-

- (क) अर्थ का संचार होता है।
- (ख) सामाजिक मान्यताओं का संचरण होता है।
- (ग) अनुभव बाँटना है।

अतः संचार एक गतिशील प्रक्रिया है, जो सम्बन्धों पर आधारित है। वह सम्बन्ध और व्यक्तियों को जोड़ने का एक बड़ा अधिकार है— एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से, एक व्यक्ति को एक समूह से, एक समूह को दूसरे से और एक देश से दूसरे देश से जोड़ने का काम भी संचार के आधार पर ही होता है।

संचार जीवन को परिपूर्ण बनाता है और जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। जब हम अकेले में सोचते हैं या जब हम अपने विचार दूसरों के सामने रखते हैं या परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तो निश्चित ही संचार होता है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था में संचार के मुख्य कार्यों को निम्न प्रकार से पहचाना जा सकता है—

- (1) सूचना / जानकारी
- (2) सामाजीकरण
- (3) प्रेरणा

●●● वीथिका ●●●

- (4) वाद-विवाद / परिचर्चा
- (5) शिक्षा
- (6) मनोरंजन
- (7) एकीकरण
- (8) सामूहिक सत्ता की अपेक्षा
- (9) परिवर्तन
- (10) नियंत्रण एवं निगरानी

संचार मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं-

(क) श्रव्य संचार- इस प्रकार के माध्यम से श्रवणेन्द्रियों का सर्वाधिक प्रयोग होता है। जिसमें श्रोता केवल संदेश सुन सकता है। इसके अन्तर्गत रेडियो, संगोष्ठी, गोष्ठी, नेताओं द्वारा दिये गये सार्वजनिक भाषण, लोकगीत, समूह संचार आदि आते हैं। इसका बड़ा लाभ यह है कि श्रोता का शिक्षित होना आवश्यक नहीं है।

(ख) दृश्य संचार- ऐसे माध्यम से श्रोता देखकर संदेश को समझ जाता है, उसे दृश्य संचार कहते हैं। दृश्य संचार में श्रोता नेत्रों का सर्वाधिक उपयोग करता है। वर्तमान में अधिकतर दृश्य सामग्री का उपयोग किया जा रहा है जो नगरों में चौराहों पर बड़े-बड़े होर्डिंग, दृश्य संचार के रूप में, मूर्ति द्वारा, मूक अभिनय, कठपुतली, कार्टून, शारीरिक क्रिया-कलाप, भाषा, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फोटोग्राफ आदि आते हैं।

(ग) श्रव्य-दृश्य संचार- श्रव्य-दृश्य संचार माध्यम से श्रोता अपने नेत्रों और कानों का उपयोग करके संदेश प्राप्त करता है। ये माध्यम श्रोता को विश्वसनीय सूचनाएँ देने में सफल रहे हैं। इस प्रकार के माध्यमों में टेलीविजन, फिल्म, रंगमंच आदि आते हैं। आधुनिक युग में संचार के नवीन माध्यमों में संदेश देखा और सुना जा सकता है। उसके लिए उपग्रह, संचार, इंटरनेट आदि प्रणाली सुलभ है।

संचार का मनुष्य से जुड़ाव तो आदिम युग से ही रहा है क्योंकि

मनुष्य अपने विचारों का आदान-प्रदान कभी सांकेतिक रूप से तो कभी व्यवहारिक एवं श्रव्य दृश्य रूप में करता ही आया है, और जैसे-जैसे मनुष्य विकास की ओर बढ़ता गया उसके संचार में वृद्धि होती गई। सच्चे अर्थों में अगर संचार की बात की जाय तो आम जन का जुड़ाव साहित्य से, हिन्दी से आधुनिक रूप में हमें बड़े पैमाने पर दिखाई देता है। जिसमें प्रिन्ट मीडिया और टेलीविजन का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

हिन्दी साहित्य की बात करे तो आधुनिक युग में भारतेन्दु युग में 'साक्षात्कार', 'भेंटवार्ता', 'डायरी', 'पत्रिका आदि विधाओं का विकास हुआ। 'साक्षात्कार' समाचार का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। 'साक्षात्कार' लेना एक कला है। 'भेंटवार्ता' में कुशलता प्राप्त किये बिना कोई भी पत्रकार श्रेष्ठ पत्रकार नहीं बन सकता। किसी भी घटना की पूरी जानकारी सम्बन्ध पक्षों से बातचीत किये बिना नहीं मिल सकती।

रेडियों का आधुनिक युग में विकास होने पर रेडियों पर अनेक कवियों लेखकों की कहानियाँ, नाटक, जीवनी, उपन्यासों का रूपान्तरण किया जा चुका है। जिससे सुदूर गाँवों में मौजूद व्यक्तियों को इसके बारे में जानकारी तथा देश में क्रिया-कलाप घटनाओं आदि के बारे में जानकारी मिलती है, जो जन सामान्य की मुख्य धारा से कटा हुआ था। उसे भी अपनी सोच विचार अभिव्यक्ति करने में एक अहम भूमिका अदा करता है।

टेलीविजन के अविष्कार से जो साहित्य पहले सिर्फ मनोरंजन के लिए पढ़ा जाता था लेकिन वह साहित्य जो आम जन से कटा हुआ था। वह समाज के हर वर्ग के पास आसानी से पहुँच गया तथा नैतिकता, आदर्श, यथार्थ आदि मूल्यों को जन तक पहुँचाया।

टी0 वी0 पर प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रमों में धारावाहिकों के इतिहास में 'रामायण' और 'महाभारत' ने एक नए युग का सूत्रपात किया। यों 'बुनियाद' ने इसकी शुरुआत कर दी थी, किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' ने धारावाहिकों को स्थायी रूप से (बंबई) मुम्बई या फिल्मोद्योग से जोड़ दिया। बड़ी पूँजी, बड़ी योजना, बड़ी फिल्म कंपनियों और लम्बी अवधि तक चलने

●●● वीथिका ●●●

वाला धारावाहिक मनोरंजन 'रामायण' और 'महाभारत' से ही शुरू हुआ।

इन धारावाहिकों ने न केवल अधिकाधिक विज्ञापन आकर्षित किये बल्कि अधिकाधिक दर्शक भी जुटाये। 'रामायण' ने लोकप्रियता में हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता की बराबरी की। 'महाभारत' ने उसे पीछे छोड़ दिया। उसने अखिल भारतीय स्तर पर दर्शकों का एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। यह हिन्दी फिल्मों एवं 'चित्रहार' के दर्शकों की संख्या के प्रतिशत को भी पीछे छोड़ गया। जहाँ साहित्यकार देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित 'चन्द्रकान्ता' ने मनोरंजन के साथ-साथ अन्य गैर हिन्दी भाषी जनता को 'हिन्दी सीखने के लिए प्रेरित किया वही 'चन्द्रकान्ता' दूरदर्शन पर काफी लोकप्रिय रहा। इस प्रकार के साहित्य का निर्माण रंगमंच तथा टी0 वी0 के माध्यम से समाज में बार-बार प्रस्तुत किये जाते रहे। यही कारण है कि प्रसिद्ध आलोचक **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने कहा है कि- "रामायण में हमारे समाज का आदर्श रूप तथा महाभारत में यथार्थ रूप मौजूद है।"

भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युग में पत्रकारिता के क्षेत्र में 'सरस्वती' पत्रिका एक आधार स्तम्भ के रूप में अन्य पत्र-पत्रिकाओं का मार्गदर्शन करती रही और यही संचार हमारे देश के गुलामी के समय देश की आवाम का पथ प्रदर्शन और क्रान्ति का आह्वान करता रहा है।

संचार की भाषा में हिन्दी एक महत्त्वपूर्ण भाषा के रूप में उभरकर सामने आयी है। जिसने सम्पूर्ण देश में ही नहीं बल्कि विदेशों में अपनी एक अलग पहचान बनायी है। यही कारण है कि हिन्दी आज विश्व में तीसरे स्थान पर बोली जाने वाली भाषा है। विदेशी कंपनियाँ अपने ब्राण्डों को या उत्पादन को बेचने के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं।

आज हिन्दी के माध्यम से ही सम्पूर्ण भारत का एक सूत्र में पिरोया जा रहा है। आज बड़े-बड़े नेता, अभिनेता अपनी विचार का बात को आम जन तक पहुँचाने के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं क्योंकि इसे आसानी से जो समाज का अनपढ़ व्यक्ति है उसको भी बताया तथा समझाया जा सकता है।

आज कल टी0 वी0, रेडियो, इंटरनेट पर प्रसारित किये जाने वाले विज्ञापनों की भाषा अधिकांशतः हिन्दी ही होती है। कम्प्यूटर के आगमन से हम फेसबुक, ट्यूटर, यू0 ट्यूब, वाट्सएप, स्काइप आदि पर हम अपना विचार प्रतिक्रिया (फीडबैक) देकर अपनी समस्याओं विचारों को आम जन तक आसानी से पहुँचा देते हैं। जो आज से अर्थात् आधुनिक युग से पूर्व एक समस्या थी।

चर्चित उपन्यास 'तमस' के लेखक वरिष्ठ साहित्यकार **भीष्म साहनी** ने कहा था कि— "भाषा स्वभावतः एक जोड़ने वाला माध्यम है। आंचालिक भाषाओं की अपनी एक अलग खुशबू है, अपना अलग एक महत्त्व है। अंग्रेजी शब्द ठूँसकर नहीं, हिन्दी को आंचालिक भाषाओं से जोड़कर ही समृद्ध और शक्तिशाली बनाया जा सकता है। शुद्ध भाषा के नाम पर थोपे जाने वाली गम्भीरता से हिन्दी का भारी नुकसान होता है।"

राष्ट्रीय ख्याति के समाजशास्त्री **पी0 सी0 जोशी** ने कहा है कि— "प्रसार भारती बोर्ड में श्री राजेन्द्र यादव को छोड़कर और कोई ऐसा नहीं है, जिसका हिन्दी में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान हो। सरकार हर क्षेत्र में स्वायत्तता की बात करती है, मगर आज तक कभी भी भाषायी स्वायत्तता की बात नहीं हुई। भाषायी स्वायत्तता के बगैर स्वतन्त्रता बेमानी है।"

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं भविष्य में हिन्दी जनसंचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि विज्ञापन की भाषा अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग जैसे 'ये दिल माँगे मोर', 'पहले इस्तेमाल करें फिर विश्वास करें', 'ठण्डा मतलब कोका-कोला' आदि के विज्ञापनों में हिन्दी का प्रयोग किया जाता है।

आज से पूर्व हिन्दी सिर्फ पढ़ने सीखने के लिए प्रयोग की जाती थी लेकिन आज हिन्दी रोजगारपरक हो गई हैं। यही कारण है कि आज हिन्दी पढ़ाने के लिए विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापक की जरूरत है। आज अन्तर्राष्ट्रीय विश्व हिन्दी साहित्य का सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। जिसमें सम्पूर्ण विश्व के प्रसिद्ध विद्वानों को बुलाया जाता है तथा जो

●●● वीथिका ●●●

हिन्दी के प्रसार-प्रचार को आगे पढ़ाने में अहम भूमिका अदा करते हैं।

इसलिए हम कह सकते हैं कि हिन्दी का संचार के रूप में प्रयोग भविष्य में कारगर साबित होगा और दिन प्रतिदिन इसकी उपादेयता आगे बढ़ती ही रहेगी।

भविष्य में हिन्दी संचार के माध्यम से एक प्रतिनिधि हथियार के रूप में है। जिसकी अपनी अज्ञान रूपी बंजर जमीन पर लहलहाते हुए फसल रूपी संचार आम जन की खुशहाली का प्रतीक है।

सन्दर्भ —

1. संचार माध्यम तकनीक और लेखन-डॉ० विजय कुलश्रेष्ठ, श्याम प्रकाशन, जयपुर।
2. दूरदर्शन दशा और दिशा, सुधीश पचौरी, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण पंत्रालय भारत सरकार।
3. रेडियो समाचार, राम सागर शुक्ल, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
4. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, 2002।
5. न्यू मिडिया इण्टरनेट की भाषायी चुनौतियाँ और सम्भावनाएँ, सम्पादक आर० अनुराधा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2012।
6. ग्लोबल मीडिया और हिन्दी पत्रकारिता सम्पादक डॉ० हरीश अरोरा साहित्य संचय प्रकाशन, नई दिल्ली 2013।

जल संकट बनाम निजीकरण : समीक्षात्मक अध्ययन

डा० अंशु केडिया*

यह मनुष्य की स्वभावगत विशेषता है कि जिस वस्तु का महत्व जितना ज्यादा होता है इस पर उतना ही अधिक नियंत्रण रखने की उसकी चाहत होती है। इस चाहत की पूर्ति में सहयोगी के रूप में भूमिका निभायी है आर्थिक सुधार के लिए प्रेरित 1990 के दशक ने। साथ ही विश्व बैंक, आई एम एफ, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों व अन्य देशी कम्पनियों की बढ़ती दिलचस्पी ने। इस दशक ने बाजार के प्रभाव में जरूरत की हर चीज को, चाहे वह प्राकृतिक ही क्यों न हो, बाजार में बिकने के लिए उतार दिया है। इस प्रक्रिया में जल, जंगल व जमीन पर निजी स्वामित्व की होड लग चुकी है। जल के निजीकरण की प्रक्रिया विश्वव्यापी हो चुकी है। जल आपूर्ति, प्रबंधन व गुणवत्ता के नाम पर किये गए निजीकरण ने जल को ब्रिकी की वस्तु बना दिया। मिनिरल वाटर के रूप में फलता फूलता व्यवसाय अब अरबों का हो गया है।

शस्यश्यामला भारत की भूमि जहां प्रकृति ने भरपूर खजाना दिया है वहां इस प्राकृतिक धरोहर को सहेज के रखना सरकार से लेकर नागरिकों सबकी जिम्मेदारी हैं। इस गरीब देश में, तहां 77 प्रतिशत जनसंख्या 20 रूपये प्रतिदिन पर गुजारा करती हो वहां निजीकरण की प्रक्रिया निहायत जनविरोधी है।

संविधान के अनुच्छेद 47 के अनुसार यह राज्य की जिम्मेदारी है कि लोगों के पोषण और जीवन स्तर को ऊपर उठाये व जन स्वास्थ्य में सुधार करे। इसके अर्न्तगत जीवन स्तर और जन स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से स्वच्छ पेयजल प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध करवाना राज्य की जिम्मेदारी है और यह मूलभूत मानव आवश्यकता है। भारत के संविधान ने अपने नागरिकों को कुछ मूलभूत अधिकार दिये हैं। संविधान का अनुच्छेद 21 'जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा का अधिकार देता है। जल जीवन का रक्षक

* असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज शास्त्र, ए.पी.सेन मेमोरियल गर्ल्स (पी.जी.) कॉलेज, लखनऊ।

●●● वीथिका ●●●

होता है। पानी और हवा के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। आज जब पेय जल की उपलब्धता जेब में रुपये से तय होने लगी है तो इस संवैधानिक अधिकार का क्या किया जाये ? सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में पारिस्थितिकी व सार्वजनिक साख सिद्धान्त (Ecology and Public Trust Doctrine) का उल्लेख करते हुए कहा कि पानी, हवा, समुद्र, और जंगल जैसे संसाधन लोगों के लिए अत्यधिक महत्व रखते हैं। इसको निजी स्वामित्व की वस्तु बना देना पूरी तरह से न्याय के विरुद्ध होगा।' (M.C.Mehta vs Kamal Nath (1997) 1 sec 388)A इसी तरह सुभास बनाम बिहार राज्य के निर्णय में न्यायालय ने कहा कि 'स्वच्छ वायु का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत आता है। पर्यावरण के तत्वों मुख्यतया हवा, पानी और मृदा जो जीवन के लिए जरूरी है इनको नुकसान पहुँचाना जीवन के लिए खतरनाक है और यह संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पर्यावरण, जल, जंगल, हवा और जमीन को कौन लोग नुकसान पहुँचा रहे हैं? इस पूरी प्रक्रिया में जन सामान्य से लेकर पूंजीपति वर्ग सभी शामिल हैं। परन्तु अन्तर यह है कि जन सामान्य जहां पानी का प्रयोग अपनी दैनिक दिनचर्या के लिये करते हैं, वहीं पूंजीपति वर्ग इसका प्रयोग मुनाफा के लिये करते हैं। यह मनुष्य की स्वभावगत विशेषता है कि जिस वस्तु का महत्व जितना ज्यादा होता है इस पर उतना ही अधिक नियंत्रण रखने की उसकी चाहत होती है। इस चाहत की पूर्ति में पूंजीपति वर्ग के सहयोगी के रूप में भूमिका निभायी है आर्थिक सुधार के लिए प्रेरित 1990 के दशक ने। साथ ही विश्व बैंक, आई एम एफ, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों व अन्य देशी कम्पनियों की बढ़ती दिलचस्पी ने। इस दशक ने बाजार के प्रभाव में जरूरत की हर चीज को, चाहे वह प्राकृतिक ही क्यों न हो, बाजार में बिकने के लिए उतार दिया है। इसके लिए मीडिया व शासक वर्ग के सहयोग से इस भ्रमजाल को फैलाने का भी सफल प्रयास किया गया है कि लोग तो नियमित और स्तरीय सुविधाओं के लिए कीमत चुकाने के लिए तैयार हैं। यही वह भ्रम जाल है जिसने पानी और नदी को भी बाजार की वस्तु बना दिया है नतीजतन्

दुनिया भर में अब पानी का व्यवसाय 500 बिलियन डालर से ज्यादा हो गया है। पानी के क्षेत्र की सुप्रसिद्ध कम्पनी सुएज लियोन्नेज डेज इआक्स के मुख्य

कार्यकारी अधिकारी का कथन भी पूंजीपति वर्ग की सोच को दर्शाता है कि पानी एक ऐसा प्रभावी उत्पाद है जो तकरीबन मुफ्त मिल जाता है और जिस के बगैर जिन्दा रहना असम्भव है। मुफ्त मिले इस उत्पाद का मार्केटिंग कर बेचने के काम में तो सिर्फ मुनाफा ही मुनाफा है।

विश्व बैंक ने भारत सरकार के जल संसाधन मंत्रालय व शहरी मामले और रोजगार मंत्रालय के सहयोग में 1999 में 6 खण्डों में विभाजित विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में बढ़ती आबादी, बढ़ते नगरीकरण और औद्योगीकरण के परिप्रेक्ष्य में घटते जलसंसाधनों की भयावह तस्वीर प्रस्तुत कर प्रबंधन व नियमन के नाम पर निजीकरण की वकालत की गयी थी। 2002 की राष्ट्रीय जलनीति में जल को पहली बार प्रमुख के स्थान पर कीमती शब्द से जोड़कर प्रस्तुत किया गया। यह केवल शब्दों का हेर फेर नहीं था वरन् कीमती शब्द का अर्थ व्यावसायीकरण को मान्यता देना था।

बाद में सरकार और विश्व बैंक के सहयोग से एक निजी प्रकाशक 'एलाईड पब्लिशर्स' ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की, यह रिपोर्ट भी जल क्षेत्र व प्रबन्धन, भू जल नियमन एवं प्रबन्धन, सिंचाई क्षेत्र, ग्रामीण जल आपूर्ति और स्वच्छता, पूरी लागत वसूली में विभाजित है। शहरी जल आपूर्ति और स्वच्छता के नाम पर प्रकाशित इस रिपोर्ट में 5 परिवर्तन भी सुझाये गये हैं जो कि तुलनात्मक प्रतियोगी वातावरण बनाने, वित्तीय व्यवस्था को बाजारोन्मुख बनाने, शुल्क ढांचे को सुधारने, सरकारी वार्डों में सुधार के लिए नीति और नियमन कार्यों का संचालन अलग से करने व नगरपालिका निकायों के हाथ बांधने की वकालत करती है। इसी तरह ग्रामीण जल आपूर्ति और स्वच्छता सम्बन्धित व सिंचाई क्षेत्र पर केन्द्रित रिपोर्ट भी जल उपभोक्ता एसोसिएशन की स्थापना के माध्यम से निजीकरण को बढ़ावा देने की बात करती है।

●●● वीथिका ●●●

क्या यह सारी प्रक्रिया यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि हम यह मान चुके हैं कि यदि बाजार पानी की कीमत तय करेगा तो इसका नियमन व प्रबन्धन सुधर जायेगा। हकीकत यह है कि यह एक जन विरोधी दृष्टिकोण है। यह जनविरोधी इसीलिए भी माना जा सकता है कि इसने पानी जैसी निशुल्क बिकने वाली वस्तु को निजी सम्पत्ति बना दिया है। आज हमारे पास विश्व के विभिन्न देशों के निजीकरण के कटु अनुभव भी हैं। आपूर्ति प्रबन्धन के नाम पर दामों में मनमानी वृद्धि के कारण निजीकरण का जब इन देशों में विरोध हुआ तब इन देशों की सरकारों को या तो पुनः जल प्रबन्धन व नियंत्रण का दायित्व लेना पड़ा या नयी जनकेन्द्रित वैकल्पिक व्यवस्था अपनानी पड़ी। लैटिन अमेरिका, अफ्रीका, एशिया की गिरती सम्मलती अर्थव्यवस्थाओं की बात यदि हम छोड़ भी दे तो खुद नैगम कम्पनियों के मालिक देश अमेरिका, ब्रिटेन फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि के लोग क्षेत्र, देश की सीमाओं से परे जा निजीकरण के विरोध में सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर हुए। फ्रांस के ग्रेनोबिल, अमेरिका के अटलांटा, न्यू आरलींस, बोलिविया के कोचाबंवा, पोर्टो अलेग्रे, ब्यूनस आयर्स, पेनांग, यूक्रेन, इन्डोनेशिया, उरुग्वे, दक्षिण अफ्रीका, स्लोवाकिया आदि वे क्षेत्र व देश हैं जहां विरोध के चलते पानी व नदी के निजीकरण की व्यवस्था वापस ली गयी।

यह विडम्बना नहीं तो क्या है कि जब विभिन्न देशों के कडुवे अनुभव हमारे पास हैं तब भी हम उनसे सीख न लेकर उस पर चलने को आमादा हैं। फॉरच्यून पत्रिका की रिपोर्ट के अनुसार बीसवीं शताब्दी के लिए तेल की जो कीमत थी इक्कीसवीं शताब्दी के लिए पानी की वही कीमत होगी। यह अनायास ही नहीं है कि पानी उद्योग का वार्षिक राजस्व आज तेल सेक्टर के लगभग 40 प्रतिशत से ऊपर जा पहुँचा है। भारत की स्थिति तो और भी भयंकर है। भ्रष्टता का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि देश के कुल 688 जिलों में से अधिकतम 80 जिले ही ऐसे हैं जिनका पानी पीने योग्य रह गया है। 91 जलाशयों का जल स्तर अब तक एक तिहाई घट चुका

है। नदियाँ यहाँ जल की प्राकृतिक स्रोत हैं गंगा, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी जैसी बड़ी नदियाँ 33 से लेकर 49 फीट तक सिकुड़ चुकी हैं और यह सिकुड़ना जारी रहेगा क्योंकि मुनाफे की हवस पृथ्वी के तापमान को घटने ही नहीं देगी। इसी पूँजीवादी लोभ के चलते नदियों का 75 प्रतिशत से भी ज्यादा पानी प्रदूषित हो चुका है और पीने व नहाने योग्य नहीं रह गया है। नेस्ले, कोकाकोला, पेप्सी आदि द्वारा निर्मित पेय पदार्थ में प्रति व्यक्ति 95 लीटर के हिसाब से पानी इस्तेमाल होता है। ठीक इसी प्रकार बोतलबन्द पानी के धन्धे में 1 लीटर साफ पानी के लिए 5 लीटर पानी इस्तेमाल हो जाता है। बोतलबन्द पानी का व्यापार आज 160 बिलियन डालर हो गया है। धन्धे पर जबरदस्त दबदबा रखनेवाली नेस्ले सहित बिसलेरी, पेप्सी, कोकाकोला जैसी प्रमुख कम्पनियाँ क्या जल संकट को देखते हुए अपना खरबों का मुनाफा छोड़ देंगी? ऐसा वे करने से नहीं, बल्कि वे इन संकटों से और ज्यादा मुनाफा कमाने की कोशिश में रहेंगी। मद्धिम गति से लगातार जारी मन्दी के इस दौर में जब पूँजीपतियों का मुनाफा घटता है तो मुनाफे का यह संकट आम जन के संकटों से मुनाफा पैदा करने की कोशिशों में लग जाता है और आम जनता के लिए और अधिक संकट ले आता है। यह दुष्चक्र चलता रहता है स्थिति तब और खराब होती है जब जल जैसे विषयों पर मंच के विभिन्न सत्रों में विश्व बैंक के मुखिया और खाद्य सामग्री व बोतलबन्द पानी बाजार से सर्वाधिक मुनाफा लेने वाली नेस्ले कम्पनी के अध्यक्ष आदि जैसे लोगों को ही सलाह देने की प्रक्रिया में शामिल किया जाता है।

शोचनीय है कि जहाँ पानी की कमी से अस्पतालों को मरीजों की सर्जरी पर रोक लगा देने पड़ी हो, वहीं पाँच सितारा होटलों में एक कमरे के प्रतिदिन पानी का खर्च 1,600 लीटर होता है बोरीवली में 210 तरण तालों वाला भवन बनता है। सवाल यह है कि ऐसी विलासिता पर प्रतिबन्ध लगाने की जरूरत क्यों नहीं समझी जाती। यह कैसे सम्भव होता है कि जब देश के 13 से अधिक राज्यों के सूखे की चपेट में होते हैं तब भी वाटर पार्क और जल आधारित मनोरंजन केन्द्र न केवल चल रहे होते हैं बल्कि नये-नये खोले

●●● वीथिका ●●●

भी जाते हैं, यह तब जबकि केन्द्र सरकार का यह अधिकार व जिम्मेदारी है कि वह जनहित में पानी की इस बर्बादी पर रोक लगाने के लिए कड़े कदम उठाये।

पानी कभी निजी नहीं हो सकता। यह मुनाफे की वस्तु तो बन ही नहीं सकता। यह अनमोल धरोहर कभी अमीरी गरीबी नहीं देखती अतः सभी का इस पर बराबर अधिकार होना चाहिए। नौकरशाही में व्याप्त असंवेदनहीनता, भ्रष्टाचार जिसके लिये माना जाता है कि इसने निजीकरण की राह आसान की परन्तु अनुभव बनाता है कि निजीकरण ने भ्रष्टाचार को बढ़ाने में मदद ही की है। भारत में, जहां प्रकृति ने नदियों के रूप में भरपूर खजाना दिया है वहां इस प्राकृतिक धरोहर को सहेज के रखना सरकार से लेकर नागरिकों सबकी जिम्मेदारी है। इस गरीब देश में, तहां 77 प्रतिशत जनसंख्या 20 रुपये प्रतिदिन पर गुजारा करती हो वहां निजीकरण की प्रक्रिया निहायत जनविरोधी है।

अतः आज आवश्यकता पानी के लिए किसी नए कानून या निजीकरण की नहीं है वरन् जरूरत है सार्वजनिक व्यवस्था में लगे जंग को दूर करने की। निजीकरण प्रक्रिया में व्याप्त करोड़ों अरबों के ठेके के माध्यम से फलते-फूलते भ्रष्टाचार से समस्या दूर नहीं होगी। यदि हम सार्वजनिक व्यवस्था को पारदर्शी नहीं बना पाते, तो हमें नये विकल्प तलाशने होंगे। विभिन्न देशों में जलसमस्या के समाधान हेतु अपनाये गये जनकेन्द्रित जन भागीदारी वाले सर्वजनिक मॉडल से सबक लिया जा सकता है।

हम आज अमेरिका परस्त होने में खुशी तलाश लेते हैं लेकिन हम इस पर विचार साझा नहीं करना चाहते कि अमेरिका में जलापूर्ति सम्बन्धित सभी व्यवस्थाएं जन संगठनों द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। यह एक आदर्श स्थिति है जिस पर हम अमल करने के लिए सोच तो सकते ही हैं।

2015 में ट्रांसनेशनल इंस्टीट्यूट (टीएनआई) और कारपोरेट यूरोप आब्जर्वेटरी (सीईओ) द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'लेके रहेंगे अपना पानी' जन पहलों का नजरिया, संघर्ष और उपलिब्धियां, लगभग 20 देशों में हुए पानी के

निजीकरण के सफल विरोध और वैकल्पिक समाधान का लेखा जोखा प्रस्तुत करती है। इंसाफ और पीस द्वारा जनहित में जारी इस पुस्तक के माध्यम से भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए विकल्पों पर बहस की जा सकती है।

संदर्भ —

- 1 अरूण पाण्डेय, दिलीप चौबे व अन्य विशेष अंक हस्तक्षेप, राष्ट्रीय सहारा 12 मई 2001
- 2 अतनु राहा, दुनु राय, पानी व सप्लाई, दिल्ली किसकी है, प्रथम संस्करण, नवम्बर 2003, प्रकाशक ट्रांसपोर्ट रिसर्च एण्ड इंजुरी प्रिवेंशन प्रोग्राम, नयी दिल्ली
- 3 कारपोरेटाइजेशन ऑफ वाटर, [www.insafindia.org/publication/Delhi water htm](http://www.insafindia.org/publication/Delhi%20water.htm) Page 1
- 4 प्रेम प्रकाश, पानी का निजीकरण: पूँजीवादी लूट की बर्बरतम अभिव्यक्ति, आहवान, दिल्ली, अप्रैल 2011 [ahwanmag-com/archives/1187](http://ahwanmag.com/archives/1187)
- 5 मीनाक्षी: जल संकट: वित्तीय पूँजी की जकड़बन्दी का नतीजा, आहवान, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, जनवरी, 2016
- 6 डेविड हाल, भूमिका, ले के रहेंगे अपना पानी, जन पहलों का नजरिया, संघर्ष व उपलब्धियां, ट्रांसनेशनल इंस्टीट्यूट और कॉरपोरेट यूरोप आब्जरवेटेरी द्वारा 2005 में प्रकाशित
- 7 स्रोत-दिल्ली सांख्यिकी पुस्तिका, भारत सरकार, 2001
- 8 www.indiawaterportal.org/

शिक्षा के निजीकरण का सामाजिक रूप से वंचित वर्गों पर प्रभाव

डॉ० सतीश कुमार सिंह*

सामाजिक न्याय की विचारधारा बुनियादी रूप से सभी मनुष्यों को समान मानती है। किसी भी मानव के साथ सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिये। भारत जैसे देश में सामाजिक न्याय का प्रयोग वंचित समूहों द्वारा अपने अधिकारों की माँग के लिये किया जाता रहा है। डॉ० अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय पर व्यापक विचार किया था। उनके अनुसार प्रमुख रूप से सामाजिक न्याय से तात्पर्य सामाजिक समानता है। सामाजिक न्याय का सिद्धान्त यह माँग करता है कि किसी भी व्यक्ति के साथ लिंग, वर्ण, जाति, धर्म व स्थान के आधार पर भेदभाव न किया जाये तथा उसे आत्मविकास के समान अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय किसी भी आधार पर किये गये शोषण का निषेध करता है। संविधान के अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि सामाजिक न्याय एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय भी सम्मिलित है। भारत में प्राचीनकाल से शूद्र वर्ण में शामिल अनेक जातियों को पढ़ने-लिखने का अधिकार ही नहीं दिया गया। देश की आजादी के बाद उन्हें यह अवसर तो मिला परन्तु शिक्षा के निजीकरण के बढ़ते प्रभाव से ये जातियाँ पुनः पिछड़ती हुई प्रतीत हो रही हैं। आज के इस बदलते परिवेश में आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के निजीकरण का समुचित आंकलन कर यह देखा जाय कि इससे सामाजिक न्याय की अवधारणा फलीभूत हो सकेगी।

वर्तमान समय में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार विश्व के अधिकांश देशों में मौलिक अधिकार के रूप में है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष 1948 में जनरल असेम्बली में यह घोषणा की कि "प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा निःशुल्क होगी और कम से कम

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर (इतिहास विभाग), डी०एस०एन० पी०जी० कालेज, उन्नाव।

ऐलीमेन्ट्री स्तर तक शिक्षा अनिवार्य होगी।" इसी क्रम में वर्ल्ड कॉन्फ्रेंस 1990 के साथ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45, शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2010 के अन्तर्गत शिक्षा के फलक को निरन्तर व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है। पिछले कुछ दशकों में भूमण्डलीकरण प्रभावी हो रहा है तथा शिक्षा के क्षेत्र में नए आयाम स्थापित हो रहे हैं अतः आज हमें इस बात का अध्ययन करने की नितान्त आवश्यकता है कि सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

सर्वप्रथम हमें सामाजिक न्याय के आइने में प्राचीन काल से चली आ रही शिक्षा व्यवस्था पर दृष्टिपात करना होगा क्योंकि तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में जो त्रुटियाँ दिखायी देती हैं वही आज भी हमें विभिन्न रूपों में हमारे सामने विद्यमान हैं। वैदिक युग में शिक्षा हेतु वर्ण के आधार पर कोई विशेष भेदभाव नहीं था। आगे उपनिषदकाल में भी शिक्षा हेतु व्यक्ति के साथ ऊँच-नीच का विचार नहीं किया जाता था। परन्तु परवर्तीकाल में जाति-भेद की जो कलुषित धारणाएँ व्याप्त हो गयीं¹ प्राचीनकाल में शूद्रों को वैदिक शिक्षा तथा अन्य विषयों के ज्ञान से वंचित रखा गया। केवल द्विज वर्ण के लिये ही वेद तथा अन्य विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने शूद्रों की शिक्षा का निशेध किया है। शूद्रों के लिये सभी संस्कार वर्जित थे।² वेदों का अध्ययन करने के इच्छुक शूद्रों के लिये बड़ी कठोर व्यवस्था की गयी थी। गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने वाले शूद्रों की जीभ काट देनी चाहिए।³ वस्तुतः शूद्र संस्कार हीन थे इसलिए चार आश्रमों की व्यवस्था उनके लिए नहीं थी।⁴ मध्यकालीन इतिहासकार अलबरूनी ने भी लिखा है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है। प्राचीनकाल में उपनिषदकाल के अन्तर्गत आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी न कि वर्ण अथवा जाति। उत्तरवैदिककाल में ब्राह्मण आचार्यों के अतिरिक्त क्षत्रिय आचार्यों का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु परवर्तीकाल में आचार्यत्व का आधार वर्ण एवं जाति हो गया। द्विजों

●●● वीथिका ●●●

द्वारा वेदों के अतिरिक्त अनेक विषयों की शिक्षा देना उनका प्रधान कर्तव्य माना गया। शूद्रों के शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण यदा-कदा ही प्राप्त होते हैं। लगभग 1700 ई० तक यही शिक्षा व्यवस्था भारत में निरन्तर चलती रही। ब्रिटिशकाल के दौरान मैकाले की पद्धति एक क्रमबद्ध प्रयत्न था, जिसके द्वारा अंग्रेजी सरकार ने भारत के उच्च वर्ग को अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित करने का प्रयास किया। उसका विश्वास था कि अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग एक दुभाषिये श्रेणी के रूप में कार्य करेंगे और भारतीय भाषाओं और साहित्य को समृद्धशाली बनायेंगे और पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान जनसाधारण तक पहुंचायेंगे।⁵ ब्रिटिश शिक्षा का लाभ विशिष्ट वर्ग, भारतीय मध्यम वर्ग को हुआ। इतिहासकार ताराचन्द ने लिखा है कि बहुत समय तक शिक्षित वर्ग की प्रतिभा का दो ही क्षेत्रों में उपयोग हुआ। पहला, शिक्षित पेशों में (डाक्टर, वकालत, अध्यापन) और दूसरा सरकारी सेवाओं में, स्वतंत्र पेशों जैसे कानून, चिकित्सा और शिक्षण के पेशों में।⁶ ताराचन्द आगे लिखते हैं साधारण जनता का अज्ञान में आकंठ डूबा रहना समाज पर बहुत भारी बोझ है। यह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रगति के रास्ते में बड़ा रोड़ा था। कुछ थोड़े से लोगों की शिक्षा के लिए शिक्षा की देशी पद्धति का विनाश किया। भले ही प्राथमिक शिक्षा रही हो फिर भी इसने बहुतों को साक्षर बनाया। मध्ययुगीन अंधकार से निकलने के लिए यह ज्ञान बहुत जरूरी था।⁷ ब्रिटिशकाल में नये शिक्षित वर्ग में मुख्यतः प्राचीन हिन्दू वर्ग के लोग ही थे। इस वर्ग में ब्राह्मणों, कायस्थों का ही वर्चस्व था। मुम्बई में ब्राह्मणों, कायस्थों और पारसियों की प्रधानता थी और मद्रास में केवल ब्राह्मण ही इस क्षेत्र में थे।⁸ इस तरह ब्रिटिश काल में भी शिक्षा मुख्यतः वर्ग विशेष तक ही सीमित रही। शूद्रों द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण हमें नगण्य ही प्राप्त होते हैं।

यदि हम उत्तर प्रदेश की बात करें तो हम पाते हैं कि सरकार की शिक्षा नीति के अन्तर्गत प्रदेश की स्थिति में गुणात्मक सुधार दिखायी देता है। 1951 में जहां प्रदेश में साक्षरता 18.33 प्रतिशत थी वहीं 2011 में साक्षरता 69.72 प्रतिशत रही है।⁹ यद्यपि उत्तर प्रदेश राष्ट्रीय औसत 74.04 प्रतिशत से

पीछे चल रहा है।¹⁰ जनगणना 2011 के प्रयोजन के लिये 7 साल और उससे अधिक आयु का कोई भी व्यक्ति जो किसी भाषा में लिख पढ़ और समझ सकता हो, उसे साक्षर माना गया है। उत्तर प्रदेश में पिछले लगभग 45 वर्षों में शिक्षा की स्थिति निम्नवत् रही है:-

तालिका-1 शिक्षण संस्थानों की संख्या

वर्ष	विश्वविद्यालय	डिग्री कालेज	उच्चतर माध्यमिक स्कूल	उच्च प्राथमिक विद्यालय	प्राथमिक विद्यालय
1980-81	19	361	5174	13555	70606
1990-91	20	419	5999	15079	77111
2000-01	23	758	10532	25681	105014
2011-12	30	3553	19000	76000	156000

(स्रोत : सांख्यिकीय सारांश उत्तर प्रदेश, 2009 एवं उत्तर प्रदेश, 2013)

तालिका-2 शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या

वर्ष	विश्वविद्यालय	उच्च प्राथमिक विद्यालय	उच्चतर माध्यमिक स्कूल	प्राथमिक विद्यालय
1980-81	9368401	1804514	3248328	345169
1990-91	13642585	3097354	4767890	572816
2000-01	18545185	4132227	7602739	1146145
2008-09	27644512	9712196	10230116	2474451

(स्रोत : सांख्यिकीय सारांश, उत्तर प्रदेश, 2009)

तालिका-3 उत्तर प्रदेश में संस्थावार अनु0जाति/जनजाति के विद्यार्थियों की संख्या

वर्ष	प्राथमिक विद्यालय	उच्च प्राथमिक विद्यालय	उच्चतर माध्यमिक स्कूल
1995	3537674	638091	735372
2000	4213715	798002	940170
2008	7890779	2910457	2109793
2010	-	-	2310269

(स्रोत : सांख्यिकीय सारांश, उत्तर प्रदेश, 2014)

आजादी के पश्चात उच्च शिक्षा संस्थानों की संख्या में बढ़ोत्तरी दर्ज की गयी है। 1950-51 में भारत में 27 विश्वविद्यालय, 370 कॉलेज (सामान्य शिक्षा) 208 प्रोफेशनल कॉलेज (इंजीनियरिंग एवं मेडिकल शिक्षा) प्रदान कर रहे थे। 2006-07 में भारत में 369 विश्वविद्यालय (222 स्टेट विश्वविद्यालय

●●● वीथिका ●●●

20 सेन्ट्रल विश्वविद्यालय), 109 डीम्ड विश्वविद्यालय, 5 राज्य सरकार के अधीन एवं 13 राष्ट्रीय महत्व के संस्थानों एवं राज्य द्वारा सहायता प्राप्त 18,064 महाविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे थे। मानव विकास संसाधन मंत्रालय के अनुसार इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 11 मिलियन थी।¹¹

भारत की आजादी के पश्चात् देश के संविधान में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों को नौकरियों में समुचित आरक्षण का प्राविधान रखा गया। सामाजिक रूप से उपेक्षित वर्ग के लिये आरक्षण करने के पीछे सरकार की यह मंशा थी कि इससे सामाजिक रूप से पिछड़े वर्ग को आगे आने का मौका मिलेगा। आज इस दी गयी संवैधानिक व्यवस्था के कारण इस वर्ग से लोग नौकरियों में आने लगे हैं। सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की स्थिति निम्नवत् रही¹²—

(आंकड़े प्रतिशत में)

वर्ष	समूह-क		समूह-ख		समूह-ग		समूह-घ		कुल	
	अ0 जाति	अ0ज0 जाति	अ0 जाति	अ0ज0 जाति	अ0 जाति	अ0ज0 जाति	अ0 जाति	अ0ज0 जाति	अ0 जाति	अ0ज0 जाति
1965	1.64	0.27	2.82	0.34	8.88	1.14	17.75	3.39	13.17	2.25
2008	12.5	4.9	14.9	5.7	15.7	7.00	19.6	6.9	17.5	6.82

यह आंकड़े यह इशारा करते हैं, कि संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत दिये गये आरक्षण को आजादी के लगभग 68 वर्ष बाद भी अभी तक समूह क, ख, ग में आरक्षण पूरा नहीं हुआ है। आज भी वंचित वर्ग के लोग सरकारी नौकरियों के सहारे ही जीवनयापन कर रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में इस वर्ग के अधिकांश लोग मजदूरी कर अपनी जीविका चलाने के लिए मजबूर हैं।

न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधानपालिका की मनमानी पर अंकुश लगाती है। परन्तु न्यायपालिका का वर्तमान ढांचा सामाजिक समानता और न्याय के राष्ट्रीय उद्देश्य को पूर्ण नहीं करता है। दुर्भाग्य से उच्च न्यायपालिका का गठन यह प्रदर्शित करता है कि अधिकांश न्यायाधीशों को सोसायटी के उन्हीं वर्गों से लिया जाता है जो युगों से पुराने सामाजिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित है। न्यायपालिका की स्थिति की समीक्षा करने के लिये

सरकार ने करिया मुण्डा कमेटी बनायी थी जिसने अपनी रिपोर्ट (2000) में संसद में प्रस्तुत की थी।¹³ यह रिपोर्ट न्यायपालिका में आरक्षण की व्यवस्था का पालन न किये जाने से असन्तुष्ट थी।

आज हम उस देश में शिक्षा के निजीकरण की बात कर रहे हैं जहाँ 45 करोड़ 60 लाख लोग गरीबी रेखा के नीचे रह रहे हैं। योजना आयोग की रिपोर्ट (वर्ष 2004-05) के अनुसार भारत में 27.5 प्रतिशत लोगों को गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे थे। योजना आयोग के अनुसार 32 रुपये शहर में 26 रुपये गांव में खर्च करने वाले सदस्य को गरीबी रेखा की नीचे दी जाने वाली सुविधायें नहीं मिलेंगी। 2011-12 में रंगराजन रिपोर्ट ने 26 करोड़ ग्रामीण इलाके एवं 10 करोड़ शहरी इलाके, और कुल 36 करोड़ भारतीय लोगों को गरीबी रेखा के नीचे माना।¹⁴ आज भी भारत की कुल जनसंख्या का 68.85% हिस्सा ग्रामीण इलाकों में रहता है।¹⁵ जिसके पास स्कूल में भरने के लिए फीस का जुगाड़ करना आसान काम नहीं है। शिक्षा के निजीकरण से इन लोगों जिसमें अधिकांशतः अनुसूचित जाति एवं जनजाति, पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए शिक्षा प्राप्त करने के अवसर बहुत सीमित हो रहे हैं।

शिक्षा के निजीकरण का अर्थ है, सरकार का निजी संस्थानों पर न्यूनतम नियंत्रण का होना जिससे उन्हें हर प्रकार की मनमानी करने का अवसर मिलता है। निजी स्कूलों के दिखाने और खाने के दाँत अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक वर्ष मनमाने तरीके से हर वर्ष 25-30 प्रतिशत फीस बढ़ा ली जाती है। प्रत्येक वर्ष रजिस्ट्रेशन फीस, डेवलपमेण्ट के नाम पर, एक्टिविटी फीस, एडमिशन फीस, लैब फीस, लाइब्रेरी फीस, कम्प्यूटर फीस, खेलकूद फीस, मनोरंजन फीस, पिकनिक फीस, मेला या सांस्कृतिक आयोजन शुल्क आदि निजी स्कूलों द्वारा वसूले जाते हैं। पूर्व में दिये गये आंकड़े कहते हैं कि हमारे देश में पीड़ित अनुसूचित जाति एवं जनजाति के अधिकांश छात्र-छात्राओं के अभिभावक इतना पैसा नहीं खर्च कर पायेंगे। अभी तक सरकार के नियंत्रण में जिस भी प्रकार की शिक्षा चलायी जा रही है उससे

●●● वीथिका ●●●

सभी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिल रहा है परन्तु निजीकरण कुछ लोगों तक ही शिक्षा को सीमित कर देगा, जिससे कुछ अमीरों के ही बच्चे शिक्षा प्राप्त कर पायेंगे। शिक्षा के निजीकरण से शिक्षा मुनाफाखोरों की जेब में पहुंच जायेगी। आज विदेशी शिक्षा संस्थान भी भारत में घुसपैठ करने की फिराक में हैं और यह षड़यन्त्र एक सुनियोजित तरीके से चलाया जा रहा है और जिसमें शिक्षा माफिया और सरकारें भी शामिल हैं। सारे बच्चों को शिक्षित करना सरकारी की जिम्मेदारी है, और सरकार इससे बच रही है। इन कदमों का पूरी ताकत से विरोध होना चाहिये। आज शिक्षा की कई परतें बन गयी हैं, जिसकी जैसी आर्थिक हैसियत है उसके हिसाब से वह अपने बच्चों को उसी स्तर से पढ़ा रहा है। सरकारी स्कूलों की हैसियत जानबूझकर खराब बना दी है जिसमें समाज के गरीब अनुसूचित जाति एवं पिछड़े परिवारों के बच्चे ही स्कूल जा रहे हैं। निजी स्कूलों, कालेजों एवं विश्वविद्यालयों में सभी बच्चे नहीं पढ़ सकते हैं क्योंकि उसकी फीस चुकाने की क्षमता इन लोगों में नहीं है।

भारत में शिक्षा के बढ़ते निजीकरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने चिन्ता व्यक्त की है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष दूत किशोरी सिंह ने यूनेस्को तथा शिक्षा अधिकार मंच द्वारा नई दिल्ली में आयोजित व्याख्यान माला में भारत समेत कई विकासशील देशों में शिक्षा के निजीकरण के कारण समाज का गरीब एवं वंचित तबका शिक्षा से वंचित होता जा रहा है। किशोरी सिंह जी ने कहा कि शिक्षा प्रदान करना राज्य सरकारों की जिम्मेदारी है। यहां सन्देश स्पष्ट है कि गरीब और वंचित वर्ग शिक्षा के अधिकार से दूर रह जायेगा।

सामाजिक न्याय की विचारधारा का जन्म शोषण के विरुद्ध असन्तोष के गर्भ से हुआ जब किसी के अधिकारों का हनन किया जाता है या उसे वंचित किया जाता है तब वह व्यक्ति अपने अधिकारों की मांग करता है। आज भी भारत के वंचित वर्ग रोटी, कपड़ा, मकान, पीने के लिए साफ पानी के लिए निरन्तर संघर्षरत है। हम अभी भी भारत के लोगों को पूरी तरह साक्षर नहीं बना पाये हैं। ऐसे में सभी के अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की बात करना बेईमानी सा लगता है। सरकारें आती हैं और बड़ी-बड़ी योजनायें बनाकर

चली जाती हैं और सारी शिक्षा व्यवस्था सिर्फ कागजों पर दौड़ती दिखायी देती है जबकि वास्तविकता कोसों दूर होती है। भारतीय संविधान और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ की वर्ष 1948 की घोषणा के विपरीत हम अनुसूचित जाति एवं जनजातियों को सामाजिक न्याय दिलाने में असफल रहे हैं। आज स्थिति यह है कि आने वाले वर्षों में इन वर्गों के लोग यदि विभिन्न निजी संस्थानों में प्रवेश परीक्षा पास भी कर लेते हैं तो भी गरीबी के कारण फीस चुकाने में असमर्थ होंगे और स्थिति तब और विकराल रूप धारण करेगी जब सरकार के नियंत्रण में चल रहे शिक्षण संस्थानों की स्थिति आज की तुलना में और अधिक खराब हो चुकी होगी।

सन्दर्भ —

1. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2006, पृष्ठ-509
2. हरित स्मृति, 3.13-14
3. गौतम धर्म सूक्त, 12.5
4. महाभारत, अनुशासनपर्व, 163.10
5. ग्रोवर बी०एल० एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, एस० चॉद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2002
6. ताराचन्द भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, खण्ड-2, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ-195
7. वही, पृष्ठ-196
8. वही, पृष्ठ-197
9. उत्तर प्रदेश वार्षिकी, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 2013, पृष्ठ-XXIX
10. भारत प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ-22
11. इण्डियन पॉलिसी फोरम, 2007, इण्डियन हायर एजुकेशन रिफार्मस, ड्राफ्ट पेपर, देवेश एवं प्रतापभानु मेहता, कानपुर।
12. ब्रोसर आन रिजर्वेशन फार एस०सी०, एस०टी० एवं अदरबैकवर्ड

●●● वीथिका ●●●

क्लासेज इन सर्विसेज, चैप्टर-01, 2014

13. करिया मुंडा रिपोर्ट-न्यायपालिका में आरक्षण, 2000
14. रंगराजन पैनल रिपोर्ट, 2011-12
15. भारत प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ-27

अन्य स्रोत-

1. सांख्यिकीय सारांश, अर्थ एवं संख्या प्रभाग, राज्य नियोजन संस्थान, उत्तर प्रदेश, 2009
2. सांख्यिकीय सारांश, अर्थ एवं संख्या प्रभाग, राज्य नियोजन संस्थान, उत्तर प्रदेश, 2014

“नव-उपनिवेशवाद की चुनौतियाँ और हिन्दी”

योगेन्द्र कुमार सिंह*

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

किसी भी समाज की समग्र अभिव्यक्ति उसकी संस्कृति होती है और संस्कृति के सभी तत्वों—संस्कार, धर्म, साहित्य, सामाजिक विभाजन, अर्थव्यवस्था राजनीति, भूगोल आदि को वहाँ की भाषा से गति मिलती है। भाषा, समाज की सभ्यता, संवेदना और एक सूत्रता को व्यक्त करती है, जिस देश में सभी को भाषा विशेष मान्य न हो, उस राष्ट्र का क्षेत्रीय विवादों से उलझा होना स्वाभाविक है। चूँकि भाषा का निर्माण समाज करता है, अतः सामाजिक बदलावों के अनुरूप भाषा भी प्रभावित होती है। पंजाबी भाषा के शब्दों में जिंदादिली और कठोरता, तो अवधी के शब्दों में मिठास और सादगी का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से अधिक है, क्योंकि पंजाब सीमावर्ती होने के कारण युद्धों और असुरक्षा से जूझता रहा तथा अवध का क्षेत्र सुरक्षा और संतुलित प्रकृति से व्यवस्थित रहा।

‘नव-उपनिवेशवाद’ संस्कृति से गहराई के साथ जुड़ा है। संस्कृति और भाषा के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा है—“संस्कृति सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का साधन है। उसमें मनुष्य के भाव, विचार, संस्कार, संवेदनाएँ सभी शामिल हैं। भाषा भी ऐसी ही संस्कृति है। वह पत्थर, लकड़ी या धातुओं के बने हुए आयुधों जैसी स्थूल नहीं है, उसका स्तर अधिक सूक्ष्म है, किन्तु वह कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है। भाषा बोली जाती है, सुनी जाती है, लिखी जाती है, वह मन और इन्द्रियों का व्यापार है। उसके अर्थ का आधार भौतिक जगत है, मनुष्य की काल सापेक्ष और देश सापेक्ष चेतना है, मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से वाह्य जगत से सम्बन्ध है।”¹ वैदिक संस्कृति से वर्तमान हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के विकास की परम्परा में निरंतर भाषा और समाज के समांतर सम्बन्ध दिखायी पड़ते हैं। 19वीं शताब्दी के शुरूआती दौर, गद्य के विस्फोट, तकनीकी ज्ञान के विकास और समाज की आधुनिकतावादी दृष्टि ने देखते ही देखते, भाषा मानी

●●● वीथिका ●●●

जाने वाली 'ब्रज' (ब्रज भाषा) को 'बोली' और खड़ी बोली को 'भाषा' का दर्जा दे दिया। वहीं बोली में विभिन्न भाषाओं के शब्द भी मिश्रित होते गये क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से यह गहन संलयन का काल था। न सिर्फ दो संस्कृतियाँ (अंग्रेजी-भारतीय) जबकि दो तरह के विज्ञान, साहित्य समाज, धर्म आदि परस्पर मिल रहे थे। खड़ी बोली के टकसालीपन को जहाँ उर्दू दूर कर रही थी, वहीं उसकी भाव गंभीरता और संप्रेषणीयता के आयाम को अंग्रेजी के शब्द विस्तृत करने लगे। समांतर समय में अंग्रेजी ने समाज में अपनी पकड़ गहरी करते हुए स्वयं को भारतीयों में स्वतन्त्र भाषा का दर्जा दिलवा लिया। किन्तु अपने शैशव काल से ही उच्च और पढ़े-लिखे तबके की दुलारी रही भाषा ने प्रौढ़ता के समय तक (21वीं सदी तक) नयी दशा (भाषिक नव-उपनिवेशवाद) को प्राप्त किया।

अंग्रेजों के स्टेट्स सेंबल से सामंतों के वर्ग में पहुँची अंग्रेजी को लेकर एक बाजारवादी जनपद का विकास हुआ। जिसका वक्ता भाषा से ही अपनी 'आइडियेण्टिटी' बनाना चाहता है। पूँजीपतियों, फिल्म स्टार्स या मुट्ठी भर लोगों के अतिरिक्त समाज का अधिसंख्य मध्यवर्ग या निम्न मध्यवर्गीय समाज अंग्रेजी बोलकर अपनी विशेष पहचान बनाना चाहता है, जिसकी चपेट में राष्ट्रभाषा या संपर्क भाषा हिन्दी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत की मातृ भाषाएं शामिल हैं। जो समस्या उत्तर भारतीयों की मातृभाषा से लेकर है, वहीं दक्षिण भारत में मलयालम (केरल), कन्नड़ (कर्नाटक में), तेलगू (आंध्रप्रदेश), तमिल (तलिनाडु, पाण्डचेरी), या फिर महाराष्ट्र में मराठी तथा बंगाल में बांग्ला को लेकर है।

वस्तुतः मुख्य प्रश्न अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओं का नहीं है और न तो इन भाषाओं के साथ अंग्रेजी भाषा की कोई रकीबियत है, बल्कि भाषाओं की आपसी प्रतिस्पर्धा तो सभी का विकास करती है और एक समाज के द्वारा अधिकतम भाषाओं को सीखना निश्चय ही शुभ संकेत है। किन्तु मुख्य समस्या भाषियों के उस नजरिये की है, जहाँ एक ओर वह अपनी मातृ भाषा के मोह से बंधा हुआ है तो दूसरी तरफ अंग्रेजी का इस्तेमाल अपनी प्रतिष्ठा के प्रयोग में

करता है। वस्तुतः इस स्थित की पड़ताल भाषा की परम्परा या समाज के दोषारोपण में नहीं बल्कि आर्थिक प्रक्रियाओं में खोज की जा सकती है। यद्यपि अंग्रेजी का बढ़ता प्रभाव नब्बे के दशक से पहले भी था, किन्तु उदारीकरण से विकसित हुए नये बाजारवादी प्रभावों ने आम जन में 'ब्राण्डवाद' का विकास किया। आज ब्राण्ड ही सभी बातों का नियंता बन गया और अंग्रेजी ब्राण्डवादी भाषा बन गयी। ब्राण्डवाद के बढ़ते प्रभाव को अमित कुमार सिंह ने इस प्रकार व्यक्त किया है— "विचारधारा का मोह अब बीते दिन की बात हो गई है। स्वयं को एक ब्राण्ड के रूप में प्रस्तुत करने का प्रचलन अब जोरों पर है। ऐसा मीडिया के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप है। पश्चिमी देशों में यह प्रचलन पहले से था। अब भारत में भी यह स्वीकृति का नुस्खा बन चुका है।" 'एम0 एन0 सी0' के व्यापार का माध्यम अंग्रेजी इसलिए भी बनी क्योंकि विकासशील राष्ट्र बिना किसी विशेष शर्त के विदेशी पूँजी से अपनी बाजारों को चमकाने के लिए उसकी भाषा के साथ पहले से ही तैयार थे। यह ब्राण्डवाद की मानसिकता नव-उपनिवेशवाद की प्रक्रिया का ही फल है, जिसमें समाज के मानसिक जगत को भी बाजार ने ही नियंत्रित किया, इसका बड़ा प्रभाव भाषा पर देखा जा सकता है।

वस्तुतः 'नव-उपनिवेशवाद', उपनिवेशवाद का नवीन पक्ष है, जिसको भूमण्डलीकरण की आर्थिक क्रिया का सामाजिक पहलू मान सकते हैं। यह हमारी भूमण्डलीय अव्यवस्था की रामायण है, जिसमें हम सबका बोध बदल रहा है और हमारे सभी सांस्कृतिक ज्ञानात्मक प्रतीक बाजारवाद में बिकने को खड़े हैं। यहाँ उपनिवेशवादी विकास और उन्नति का चेहरा ओढ़कर पहले अभाव पैदा करता है और फिर उसे भरने के नाम पर उस समाज को गुलाम बनाने के लिए उसकी संस्कृति शिक्षा और भाषा को नियंत्रण में लेता है। बल्कि नव-उपनिवेशवाद राज्य के निवासियों के विचारों उनके स्वप्नों, जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बाजार के मुताबिक ढालता है। यहाँ एक राज्य दूसरे राज्य को अपना गुलाम नहीं बनाता बल्कि 'एम0 एन0 सी0' किसी भी देश के व्यापार पर नियंत्रण करके खानपान, पहनावे, जीवन

●●● वीथिका ●●●

स्तर, घरेलू सामग्री आदि सभी का निर्धारण करती हैं। नव-उपनिवेशवाद का स्वरूप बी० एल० फाड़िया ने इस प्रकार स्पष्ट किया " नव-उपनिवेशवाद आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नयी शब्दावली है। नव-उपनिवेशवाद की संकल्पना अत्यन्त आधुनिक संकल्पना है जिसका उदय द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त हुआ है। नव-उपनिवेशवाद में अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राज्य का सम्बन्ध एक आर्थिक उपनिवेश या उपग्रह का होता है। शक्तिशाली, विकासशील और तीसरी दुनिया के नव-स्वतन्त्र देशों के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार विकसित होते जा रहे हैं, कि नव-स्वतन्त्र देश आर्थिक दृष्टि से दानता के शिकंजे में फंसते जा रहे हैं, चाहे भले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही क्यों नहीं परिलक्षित होते हो।"³

नव-उपनिवेशवाद की इस प्रक्रिया से सारा देश प्रभावित है। सर्वाधिक प्रभाव सांस्कृतिक पक्ष पर पड़ा और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की इकाई भाषा (हिन्दी एवं सम्पूर्ण मातृ भाषाएं) भी नव-उपनिवेशवाद की स्थिति में पहुँच गयी है। जो अंग्रेजी नब्बे के दशक में पढ़े-लिखे समाज की भाषा मानी जाती थी, वह बीसवीं शताब्दी तक बाजार के ब्राण्डवाद से प्रेरित होकर 'स्टेटस संबल' बन गयी। इस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवादियों की भाषा से लेकर नव-उपनिवेशवादी भाषा बनने की यात्रा तय करती है। अस्तु हम भाषा से सम्बन्धित जिन समस्याओं से जूझ रहे थे, उनमें एक नयी समस्या के रूप में भाषिक नव-उपनिवेशवाद दिखाई देता है। जिसकी मानसिकता के चलते विचारों की गुणवत्ता या संवेदना की गहराई से विद्वता या अभिव्यक्ति की कुशलता का निर्धारण नहीं होता, बल्कि भाषा का माध्यम इन बातों को तय करता है। 'कार्पोरेट सेक्टर' में महज दो-चार साल से काम करने वाला व्यक्ति, जो अपने गाँव को छोड़कर पाँच बरस पहले ही गया था, वह पुनः लौटकर अपनी मातृभाषा में नहीं बल्कि 'कार्पोरेट लैंग्वेज' में 'मार्केटिंग एटीट्यूट' के साथ बात करते हुए स्वयं को अधिक विद्वान और बेहतर व्यक्तित्व का स्वामी दर्शाना चाहता है। यहाँ पर तो प्रेमचन्द की बूढ़ी काकी की समस्या भी नहीं है जो महज दिखावे के लिए छुपाई जा रही है, बल्कि

यहाँ तो बूढ़ी काकी के सामने ही, उनकी भाषा और उनको ओछा दिखाते हुए स्वयं को महिमा मण्डित करने की मृगतृष्णा है। तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, बांग्ला इन सभी भाषिक क्षेत्रों में अंग्रेजों की पर्याप्त लोक प्रियता है, कुछ क्षेत्रों में तो हिन्दी को लकर विवाद भी है, किन्तु यह क्षेत्रीय भाषाएँ भी उसी समस्या से जूझ रहीं हैं, जिससे हिन्दी संघर्ष कर रही है।

एक नयी समस्या भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से यह भी हुई कि प्रत्येक, क्षेत्रीय भाषा अपनी लिपि को खो देने के खतरे के साथ कम्प्यूटर पर आगे बढ़ रही है। 'भाषिक फॉण्ट' की समस्या के दूर होने के बावजूद भी चन्द लोग ही भाषा को उसकी लिपि के साथ लिख रहे हैं, बल्कि अधिसंख्य 'नेट यूजर्स' 'अंग्रेजी फोन्ट' में ही सभी भाषाओं का उपयोग कर रहे हैं। इस तरह विभिन्न भाषाएँ जहाँ सूचना क्रान्ति के युग में अन्तर्जालीय परिदृश्य में दिखती हैं, वहीं वह अंग्रेजी की उंगली पकड़कर ही चल पा रही हैं। इंटरनेट की दुनिया में भाषाओं की यह दशा 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन' जी की संविधान निर्माण के समय दी गयी चेतावनी को बार-बार याद दिलाती हैं कि लिपि भाषा की आत्मा होती है, उसके बिना भाषा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। भाषा का अस्तित्व, सांस्कृतिक पहचान और 'साफ्ट कंट्री पावर' की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। भारत की अतुलनीय विविधता और भाषा पर चर्चा करते हुए देवेश विजय ने लिखा है— "किसी भी संस्कृति भी पहचान सर्वप्रथम उसमें व्याप्त सौँच एवं साझी व्यवहारिक शैलियों से बनती है। भारतीय समाज में भाषाओं, रीतियों, वेशभूषा इत्यादि की अनोखी विविधता का एक कारण ही हमारे भूखण्ड का विस्तार और भौगोलिक बदलाव ही है।"⁴

वस्तुतः प्रश्न समस्याओं को उठाकर छोड़ देने का नहीं बल्कि उसके समाधान का भी है। आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक बदलावों से जो नयी चुनौतियाँ भाषा के क्षेत्र में अवतरित हुई हैं, उन्हें अधिक गंभीरता से लेने की आवश्यकता है। व्यापारिक विकास वाले समाज में जब भाषा को लेकर शुद्धतावाद, विदेशी शब्दों से परहेज, हिन्दी बनाम उर्दू या अंग्रेजी जैसे विवाद दिखते हैं या फिर भाषा के उद्भव सम्बन्धी प्रश्नों पर लम्बी बहस खड़ी होती

●●● वीथिका ●●●

है तो किसी सीमा तक वह नयी समस्याओं के समक्ष अधिक प्रासंगिक नहीं लगता। वस्तुतः भाषिक 'नव-उपनिवेशवाद' की चुनौतियों को ठीक तरह से स्वीकारने के लिए भारत में एक मानकीकृत भाषा को स्वीकारने की आवश्यकता है। बेहतर हो सकेगा कि हिन्दी को संविधान के राज भाषा अधिनियम के कागजीपन के साथ-साथ व्यवहारिक बनाया जा सके। तेलंगाना जैसे विवादों से बचकर भाषा को (हिन्दी) राजनीति का नहीं बल्कि राष्ट्र नीति का विषय बनाया जाए। जब हमारी हर योजना विकसित राष्ट्र होने के स्वप्न का अगला कदम होती है, तो हम क्यों न विकसित राष्ट्रों से ही प्रेरणा लें ? विश्व में ऐसा कोई भी विकसित देश नहीं जो अपनी भाषा के बजाय विदेशी भाषा में व्यापार करके आगे बढ़ा हो ? 'फ्राँस', 'जापान', 'चाइना' आदि इसी के उदाहरण हैं। चाइना में भाषिक वैविध्य भारत से अधिक है। वहाँ सत्तर प्रकार की चाइनीज बोली जाती है, फिर भी एक भाषा को मानकीकृत करके, उन्होंने अपनी राष्ट्र भाषा का निर्माण किया और वही व्यापारिक भाषा बनी। विश्व के कुल साढ़े चार देश 'अमेरिका', 'ब्रिटेन', 'आस्ट्रेलिया', 'न्यूजीलैण्ड' और 'आधा कनाडा' ही अंग्रेजी बोलते हैं, जबकि विकसित राष्ट्रों की संख्या डेढ़ दर्जन से अधिक है।

वस्तुतः बाजार की ब्राण्डवादी मनोदृति से मुक्त होकर, सभी को संस्कृति के अनुरूप आधुनिकता में ढलने की आवश्यकता है। यदि परिवर्तन और विकास दूसरे राष्ट्र से ली गई प्रेरणा न बनकर बल्कि उसके बाजार से पैदा किया, अनुकरण बन जाए तो पहचान का संकट और भी गहरा जाता है। अपने मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ना विकास है, फिर प्रश्न चाहे व्यक्तित्व का हो, राष्ट्र को हो, आइडेन्टिटी को हो या फिर भाषा का। इस समाधान को अंततः महात्मा गांधी के इन शब्दों में देखा जा सकता है— "मेरा कहना यह नहीं है कि हम शेष दुनिया से बचकर रहें या अपने आस-पास दीवारे खड़ी कर लें। मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात करें।"⁵

दरअसल भाषा सम्बन्धी बहुधा समस्या उस दिन सुलझ सकती है

कि जब व्यापार और व्यवहार की भाषा एक ही हो। उस दिन मात्र भाषाएं भी व्यवहारिक भाषा का अंग बन स्वयं को अधिक सुरक्षित महसूस कर पायेगी और हम समाज को एक सूत्रता में पिरो सकने में सफल हो पायेंगे।

सन्दर्भ

1. भाषा और समाज/राम विलास शर्मा, अध्याय, सोलहवां, संस्करण, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 406
2. भूमण्डलीकरण और भारत, परिदृश्य और विकल्प/अमित कुमार सिंह, प्रकाशक: सामायिक प्रकाशन-नई दिल्ली, पृ0 171
3. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति/बी0एल0 फाड़िया, प्रकाशक साहित्य भवन
4. सांस्कृतिक इतिहास एक तुलनात्मक सर्वेक्षण/देवेश विजय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ0 23
5. यंग इण्डिया अखबार, महात्मा गांधी, 01-09-1921

ohfFkdK

—: नियम एवं शर्तें :-

- वीथिका साहित्य, कला, संस्कृति, मानविकी एवं समाज विज्ञान की वार्षिक सांदर्भिक शोध पत्रिका है। शोधपरक रचनाओं हेतु शोधार्थियों एवं अध्येताओं का सहयोग अपेक्षित है।
- शोध प्रपत्र/आलेख के साथ रचना के मौलिक व अप्रकाशित होने का स्वहस्ताक्षरित घोषणापत्र अनिवार्य रूप से प्रेषित करें।
- शोध प्रपत्र/आलेख की शब्द सीमा 3000 शब्दों तक सीमित हो तथा शोध प्रपत्र के साथ 200 शब्दों का शोधसार भी अवश्य प्रेषित करें।
- शोध प्रपत्र एवं आलेख के साथ संदर्भ ग्रन्थ सूची, संदर्भ ग्रन्थ का प्रकाशन वर्ष, संस्करण तथा प्रकाशक का उल्लेख अवश्य करें।
- शोध पत्र एम0एस0 वर्ल्ड पर हिन्दी में Kruti Deve 010 के Font Size 14 में तथा अंग्रेजी में Times New Roman के Font Size 12 में टंकित करवाकर भेंजे।
- शोध प्रपत्र एवं आलेख ई.मेल पते पर अथवा सी.डी. में अनिवार्य रूप से एक मुद्रित प्रति के साथ प्रेषित करें।
- प्रकाशन हेतु शोध पत्र की स्वीकृति/अस्वीकृति का निर्धारण सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञों की राय से सम्पादक मण्डल द्वारा किया जाएगा।
- समस्त प्रकाशित शोध प्रपत्रों/आलेखों का सर्वाधिकार संपादक को सुरक्षित होगा।
- अस्वीकृत शोध प्रपत्रों/आलेखों की वापसी की जिम्मेदारी सम्पादक की नहीं होगी।
- समस्त न्यायिक परिवाद माननीय उच्च न्यायालय, लखनऊ के अधीन होंगे।



सदस्यता शुल्क

व्यक्तिगत / संस्थागत

प्रति अंक	—	300 / 500
पांच वर्ष	—	1,200 / 2,000
आजीवन	—	3,000 / 5,000

सदस्यता पत्रक

सम्पादक,

‘वीथिका’

प्रिय महोदय,

मैं राष्ट्रीय वार्षिक अनुसंधान पत्रिका वीथिका का व्यक्तिगत / संस्थागत (), वार्षिक सदस्य (), / त्रिवर्षीय सदस्य (), / आजीवन सदस्य () बनना चाहता / चाहती हूँ। अतः मैं अपना सदस्यता शुल्क रूपये (अंकों में) / (शब्दों में) नकद / चेक / मनी ऑर्डर / बैंक ड्राफ्ट संख्या द्वारा दिनांक को भेज रहा / रही हूँ।

नाम

पद नाम

पत्रिका भेजने का पता

दूरभाष / मो0

नाम व हस्ताक्षर

नोट –

- कृपया समस्त भुगतान ‘सम्पादक वीथिका, लखनऊ’ के नाम करें। लखनऊ के बाहर के चेक में Rs. 100 अतिरिक्त जोड़ें।
- सदस्यता पत्रक की छाया प्रति भी स्वीकार्य है।